



R.K. Pant

• • • तथापि

नयी कविता की तरह नयी कहानी भी ऐतिहासिक सत्य होती जा रही है। श्री नरेश मेहता का प्रस्तुत संग्रह इसी नयी कहानी का प्रतिनिधित्व करता है। इन कहानियों का रागात्मक-बोध, संवेदनाएँ तथा चेतना प्रचलित कहानियों के प्रकारों, नियमों से भिन्न है। इसीलिए इनके कथाकार को कुछ कहानी-पत्रों के प्रागैतिहासिक सम्पादकों का 'राग' सहना पड़ा है, फिर भी ये कहानियाँ वाद-विवाद का कारण बनी हुई हैं तथा कथा-साहित्य की समस्या भी।

लेखक ने भाषा को नयी अर्थवत्ता, चरित्रों को नये परिपार्श्व तथा स्थितियों को नये सन्दर्भ दिये हैं ताकि पात्र और चित्र विस्तार, ऊर्ध्व और गहन से युक्त हों।

ये कहानियाँ घटना मात्र नहीं हैं लेकिन आपमें घटती हैं। कहानी समाप्त हो जाती है पर आपमें उसकी शुरूआत होने लगती है और जाने कब तक दुहरती है। पढ़ने के पूर्व तक ही लेखक की हैं लेकिन उसके बाद ये आपकी एकान्त सम्पत्ति बन जाती हैं। आपका संस्कार बन जाती हैं। यही है इनका गुण और सम्भवतः नयी कहानी का भी यही गुण एवं संस्कार है। • • •

श्री नरेश मेहता
की
कहानियाँ

तथापि

हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर सीरीज़

तथापि

श्री नरेश मेहता

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर (प्राइवेट) लि०, बम्बई-४

प्रकाशक
यशोधर मोदी
मैनेजिंग डायरेक्टर,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड
हीराबाग, बम्बई–४

प्रथम संस्करण
दिसम्बर, १९६१
मूल्य तीन रुपये

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

श्री निर्मल वर्मा को

अनुक्रम

तथापि

निवेदन

कहानियों का प्रथम संग्रह पाठकों के सामने प्रस्तुत है। ये कहानियाँ सन् १९५४–१९६१ ई० के बीच दिल्ली–प्रयाग में लिखी गयीं। कहानियाँ कम ही लिखी हैं। इसका कारण एक तो मेरी यायावरी परिस्थितियाँ, दूसरे साहित्य की अन्य विधाओं में भी समान रूप से लिखते रहने से कहानियों को कम समय दे सका।

प्रायः हुआ यह है कि जब कभी कोई विषय-वस्तु कथात्मक होकर आयी तभी कहानी लिखी गयी। प्रस्तुत कहानियाँ, प्रचलित कहानियों से भाव-भाषा सभी में भिन्न हैं। कहानी अभिव्यक्ति होती है; घटना मात्र नहीं। आज की कहानी, फार्मूला या सोद्देश्य कहानी-कला से आगे बढ़ चुकी है। प्रायः आक्षेप सुनने में आता है कि व्यक्तिवादिता ने कुण्ठा को जन्म दिया, फलस्वरूप कहानी सिर्फ शैली रह गयी। लेकिन यह भी तो उतना ही सच है कि सोद्देश्यता ने कहानी को कुरूप, भाषण या नारेबाजी बना दिया। भूल यही है कि इस सशक्त माध्यम को व्यक्तियों, दलों, वर्गों के स्वार्थ साधन के लिए सौंपना नहीं चाहिए। साहित्य, स्वयं एक मूल्य होता है क्योंकि उसमें जीवन परिलक्षित होता है। आज की नागरिक-सभ्यता में सब विभाजित व्यक्तित्व के हैं, इसलिए हम आग्रहों को ही जीवन या अन्तिम सत्य मान लेते हैं। साहित्यकार किसी व्यक्ति या राजनीति के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। वह व्यक्तियों, दलों से ऊपर है। वह अनुयायी नहीं होता बल्कि जीवन का भी सहचर है। साहित्यकार जीवन से सीखता है तथा उसी को पुनः सिखाता है। इसलिए साहित्य में निषेध कुछ नहीं माना गया है। हमारा बौनापन ही होता है कि हम कुछ को निषेधते हैं तथा कुछ को कला के नामपर स्वीकारते हैं, जबकि मानव मात्र से सम्बन्धित समग्र ही वास्तविक कला है। लेखक संजय होता है। इस कथन में चाहे

फिर द्रौपदी का चीर-हरण हो या शकुनि का द्यूत-व्यापार हो या पाण्डवोंकी हिम-समाधि ।

कथाकार अपनी रचना-प्रक्रिया में निर्मम, निस्पृह होता है । वह असंग है । उस क्षण वह केवल रचना के प्रति ही उत्तरदायी होता है । हाँ, उसकी कृति या रचना अवश्य ही लौकिक होती है भले ही लेखक कितना ही लोकोत्तर क्यों न हो ।

प्रायः कहानी के बारे में यह भी कहा जाता है कि वह मनोरंजन होती है इसलिए उसमें भाषा का कोई विशिष्ट संस्कार आवश्यक नहीं होता । बल्कि कुछ तो संस्कारहीन भाषा को ही कहानी के लिए स्वीकारते हैं । इस बारे में रवीन्द्र, बुनिन, चेखव आदि अनेक मूर्धन्य नाम लिये जा सकते हैं कि जो आद्यन्त संस्कारशील हैं––अपनी भाषा में, अभिव्यक्ति में, विषय-वस्तु में । कहानीकारों का इस बारेमें काफी मनोरंजक दृष्टिकोण है । जब कि साहित्य भी संस्कार होता है । लेखन से व्यक्तित्व का पता चल जाता है । अस्तु––

कहानियाँ आपके सामने हैं । जीवन के विभिन्न व्यापारों पर आधारित विभिन्न शैलियों से प्रस्तुत हैं । आपकी प्रतिक्रिया जानकर लेखक को प्रसन्नता ही होगी । इति नमस्कारान्ते ।

२२ मई १९६१
९९ ए, लूकरगंज
इलाहाबाद ।

चाँदनी

चाँदनी

महीनों बाद चाँदनी का पत्र आया कलकत्ते से—खूब ही वर्षा है यहाँ और वर्षार्थी भी। पूजा तक रुकेगी। कल पड़ोस में कोई संगीतगोष्ठी थी, किसी प्रत्यूष गोस्वामी ने बड़ी अच्छी सितार बजायी थी।

बस, यह पत्र है। तब विज्ञप्तियाँ किसे कहा जाएगा? और मजा यह कि यह पत्र भी पूरे दो माह बाद कलकत्ते से नहीं, दार्जिलिङ जाने की सूचना के साथ सिलिगुड़ी से डाला गया था। चाँदनी कहा करती है कि मैं उसके पत्रों के उत्तर नहीं देता, लेकिन इस पत्र का ही उत्तर कहाँ दूँ? अपने रुकने की जगह या फिर होटल का ही पता दिया होता।

बिल्कुल गर्मियों के धूल भरे आकाश सी है।

चाँदनी जब यहाँ से गयी थी तो उसमें सायास कुछ नहीं था। एक दिन पहले ही तो हम लोग लान में बैठे हुए चाय पी रहे थे और मौसम को कोसते रहे थे। दूसरे दिन शाम की डाक से एक पोस्टकार्ड मिला कि वह कलकत्ते जा रही है और दो सप्ताह बाद लौट आएगी। मैंने भी सोचा कि इस बार पहाड़ नहीं जा सकी थी, घबरा उठी होगी, चलो ठीक है, दो-चार दिनों के लिए कहीं हो आना अच्छा होता है। लेकिन मैं इस स्वल्प-सी सूचना से क्या समझता? कहीं मैं आहत अनुभव कर रहा था कि पूछ ही लेती, खैर।

दिन बीते, सप्ताह गुजरे, महीने भी आये-गये हो गये और चाँदनी का कहीं पता नहीं था। मुझे विश्वास था कि वह कलकत्ते में ही होगी और जेटियों पर घूमते हुए विलियम फोर्ट के मैदान में दूब पर लेटे हुए, विक्टोरिया मेमोरियल के पोखर में मछलियों को चारा चुगाते हुए अनुखन प्रतीक्षारत रही होगी कि मैं आऊँगा। लेकिन कैसे? 'तुम तो अपने किसी सम्बन्धी के यहाँ गयी हुई हो, भला मैं वहाँ कैसे आ सकता हूँ?' अजीब अधूरे आकाश-सा उसका आचार होता है। लोग एब्सट्रेक्ट चित्र बनाते हैं, वह एब्सट्रेक्ट

व्यवहार करती है, जब कि मुझे काँगड़ा-शैली भी समझ में नहीं आती। भला शैलियों के इतने बड़े व्यवधान पर खड़े हम लोगों का क्या होगा ?

कुछ भी हो, उसे उत्तर तो देना है। एकमात्र उत्तर जो हो सकता है, वह है कि मैं भी दार्जिलिङ आ रहा हूँ।

इस उत्तर को वहाँ के पोस्टमास्टर के मार्फत भेज रवाना हो जाऊँगा।

अपनी इस लम्बी यात्रा में पत्र-पत्रिकाओं के अलावा चाँदनी की स्मृतियाँ हैं, खिड़की से बिहार के सपाट मैदान, दुखती रेखाओं-सी नदियाँ—सब बड़ा अच्छा लग रहा है। स्मृतियों में कोई दुखद नहीं हैं। अधिकांश या तो सुखद हैं अथवा एब्सट्रैक्ट।

वह अपनी बात, आचार, व्यवहार सबमें संकेत करती है। याद नहीं पड़ता कि कभी कोई वाक्य भी किसी से पूरा कहा होगा। सादी सी बात होगी: "चलिए, थोड़ा घूम आएँ" इतना भी पूरा नहीं कह सकती। वह तो कहेगी: "चलिए" और सड़कपर जाती किसी टैक्सी को रोक बैठ जाएगी तथा हँसती आँखों से आपकी ओर देखने लगेगी।

कभी बातों के छोटे-छोटे टुकड़ों से अधिक की गहराई में जाना नहीं चाहेगी। फटे बादलों में से आकाश के जैसे नीले टुकड़े दिखते हैं न ? बस, वैसा ही उसका बोलना होगा। हठात् कहेगी :

—"फूलोंसे मोनोटनी टूटती है न ?"

और आप देखेंगे कि यह बात का टुकड़ा फेंसिंग से दिखे किसी केना के फूल को देखकर कहा गया होगा। उसके बाद—देर-देर तक, दूर-दूर तक कोई बात नहीं होगी। हाँ, चर्चा हो सकती है कि वर्जीनिया वूल्फ की डायरी में सहजता कितनी है अथवा वह मात्र प्रयोजन लगती है। —और आप देखेंगे कि आपके चारों ओर ऐसे या इस जैसे अनेक टुकड़े फैले हुए हैं। ऐसा वह इसलिए करती है कि आपको भ्रम हो जाए कि नहीं, वह कितना तो बात करती है !! लेकिन कहीं इन टुकड़ों को सुनते हुए पा सकने के ख्याल से उसकी ओर देखना शुरू किया तो वह घिरी मछली को

तरह पहले तो इधर-उधर करेगी और फिर हताश भावसे अपने गहरे जल में नीचे उतर जाएगी, जैसे कि सब बेकार है।

प्राय: आपने देखा होगा कि लोग, आपके बारे में बातें करते हुए आपको नहीं बोलने देते, लेकिन चाँदनी हँसते हुए आपको बोलते सुनती रहेगी—ऐसे जैसे कि आप किसी बिल्लोरी शीशे के सामने खड़े हैं। वह आपको दुहरा रहा है। इसीलिए चाँदनी लोगों के सामने या तो उपस्थित होती है अथवा प्रस्तुत होती है, मिलती नहीं है। जरा-सा उसे घेर लीजिए तो वह अजीब बच्चों की भाँति शैतानी हँसी ओठों में अछूते दाबे प्रस्तुत हो जाएगी, विवश-सी। लेकिन मौका मिलते ही मछली की भाँति हाथ से फिसल कर छूट जाएगी और फिर तो गर्मियों के सूर्यास्त की तरह ऐसी दूर-दूर हो जाएगी कि समेटे नहीं सिमटाएगी। उसे हठात् पा सकना कठिन है, कारण कि उसने अपने को साधा है। रियाज किये हुए रागकी तरह उसकी उपस्थिति अनुभव होती है। तभी तो बिल्कुल विमन होने पर भी अपनी सधी अँगुलियों से चाय में चीनी या दूध की मात्रा में कोई अन्तर नहीं होगा उस पहले दिन से, जिस दिन उसने आपको जाना था।

सच ही वह अपने को प्रस्तुत करती है वर्ना उसके मुख पर विवर्णता, निस्तेज, आक्रोश सभी तो बड़ी जल्दी झलक उठता है। पतझर की झरती पत्तियाँ देखते हुए जाने क्या-क्या होने लगता है और वह खिड़की बन्द कर लेती है। टैक्सी, व्यक्ति, होटल की सीट, क्राकरी पर बने बेलबूटे सभी के बारे में बड़ी जल्दी प्रतिक्रिया से भर उठती है, लेकिन दो जलों को भी मिलने में देर लगती होगी पर कब वह क्रोध से लाल होकर ओठों में मुसकरादी है, कोई नहीं जान पाएगा। उसने अपने को इतना सायास साधा है कि अब सब अनायास लगता है।

यही लीजिए कि वह ऐसे पत्रों द्वारा सामनेवाले से क्या अपेक्षा करती है? पूछो, तो कह देगी कि नहीं, अपेक्षा करना तो बड़ी व्यक्तिगत बात है। एक दिन मैंने उसे अपने टोस्ट पर मक्खन लगा देने के लिए कहा तो

वह जाने कैसी-कैसी हो आयी। तत्काल आँखें तक छलछला आयीं और वैसे ही बरजती देखती रही। बड़ा संकोच बना रहा उस दिन। जबकि कुछ दिनों बाद एक नर्सरी से लौटते हुए कह गयी कि मैंने उसे कभी वेणी तक खरीदकर नहीं दी। उसके इस कह दिये जाने के बाद तो मैं कभी भी वेणी नहीं खरीद पाऊँगा, क्योंकि कह दिये जाने पर तो न व्यक्ति, न फूल, किसी में भी गंध नहीं रह जाती है। इसीलिए चाँदनी न बोलती है न कहती है बल्कि केवल यहाँ-वहाँ या तो एब्सट्रेक्ट टुकड़े होंगे या फिर बड़ी-बड़ी आँखोंवाला हँसता बरजना होगा। स्कूली लड़कियों-की तरह।

सिलिगुड़ी से ट्रेन बदली। तेज पहाड़ी नदियाँ, प्रलम्बित चीड़वन, अजीब चित्रात्मक एकान्त, प्रतीक्षित घाटियाँ—सब अजीब तरह से मोहते हैं। दोनों और चाबागानों के हरे विस्तार जिनमें फूलहीन पलाश—खूब सारे पलाश, वसन्तमें कैसे सुलग उठते होंगे! मुझे याद हो आया दो साल हुए जब हम ताजे चीड़फूलों की तलाश में सातताल गये थे। मन्द दोपहर छनकर बूटीदार यहाँ-वहाँ एकान्त बिछली थी। सातताल वाला ताल दर्पण बना हुआ था। चीड़ फूल खोजते हुए पत्तों को चरमराते तथा अपनी ही आहट सुनते चले गये थे। हमारी वह खोज कितनी सफल रही थी। ढेर सारे चीड़फूल रंगकर लोगों को बाँटे गये। कुछ ड्राइंगरूम में चाँदनी ने भी सजाये थे।

सहसा जाने कहाँ से सहमा-सहमा-सा दार्जिलिंग का स्टेशन सामने आ खड़ा हुआ। क्लोक-रूम में सामान रख चाँदनी की तलाश में निकल पड़ा। किसी अच्छे होटल में ही हो सकती थी। तिब्बती कुलियों से पीछा छुड़ाता सारे होटलों में भटकता रहा और उसकी हुलिया बताता पूछता रहा। अनेक बार लोगों ने सशंक होकर देखा कि मैं कौन हूँ? और किस महिला को खोजता फिर रहा हूँ? इस सबके बाद मैं आश्वस्त हो गया कि वह वहाँ आयी तो किसी होटल में नहीं रुकी। क्योंकि किसी होटल में

यदि वह टिक जाए तो लोग उसे न जाने ऐसा कभी नहीं हो सकता। पैसों के प्रति वह जितनी निर्मम है यही तो होटलवाले याद रखते हैं।

रात एक होटल में बिता दूसरे दिन अनेक सार्वजनिक स्थानों पर खोजता रहा लेकिन व्यर्थ। यहाँ उसका कोई परिचित भी नहीं था जिसके साथ वह हो सकती थी। मैं झल्लाकर लौटने के लिए बाध्य था। एक बार सोचा कि चलूँ, पोस्ट आफिस में तलाश करूँ, संभव है कुछ पता चल जाए। लेकिन उन लोगों ने भी विवशता प्रकट की। केवल वे यही कह सके कि नोटिस-बोर्ड देख लीजिए कि इस नाम के व्यक्ति का कोई पत्र तो नहीं है ?

और मैंने अपना पत्र नोटिस-बोर्ड की जालियों के पीछे, मैले सफेद फीतों में एक जगह बड़े उदास भाव से लटके पाया, जिसमें कि मैंने अपने दार्जिलिङ आने की बात लिखी थी तथा यह भी कि वह मेरी प्रतीक्षा करे।

किसका बेटा

किसका बेटा

"जसोदाँ के दो-दो लाल
बलभादर-गिरधारी"
गाते हुए वह आयी।
—"देख ओ पुत्तरऽऽ"

'पुत्तर' पंजाबी ढंग से लम्बा करते हुए भरे गालों का वह छोटा सरदार, जिसकी मसें अभी भीगने-भीगने को हो रही थीं और जो इस समय साफा लपेट रहा था, बोला।

'पुत्तर' रोज की तरह आज भी बिगड़ खड़ा हुआ।
—"ओ खोते! मोअन कंते तेरी जीभ घिसी जाती है?"

और वह गढ़वाली मोहन अपनी चपटी नाक लिये, बाहर धूप में रखी ऊँची भट्ठी के पास बैठा हुआ कड़ाही का दूध औटा रहा था। फटीचर मफलर से दोनों कान बन्द किये, चादर में दोनों पैर सिकोड़े बैठा मोहन 'पुत्तर' कहे जाने पर बिगड़ उठा। फिर उसे छोटे सरदार के मसखरेपन पर हँसी भी आयी। दोनों दोस्त थे। छोटा सरदार तस्वीरें मँढ़ने का काम करता है। लगभग बीस दिनों बाद उसने गीत की ये दोनों लाइनें सुनी थीं और वह भी उधर ही देखने लगा जिधर से वह गानेवाली 'कुड़ी' आ रही थी। यह छोटा सरदार इस जवान भिखारिन को भी 'कुड़ी' ही कहता था।

"जसोदाँ के दो-दो लाल
बलभादर-गिरधारी"

छोटा सरदार रोटी का डब्बा लेकर मोहन के पास पड़ी बेंच पर आकर 'धच्च' से बैठ गया। रोटियाँ गिनीं और गोश्तवाले कटोरे को नाक से

सूँघा। हाथ का कड़ा ऊपर चढ़ाया और दूर पर काम करते हुए दूसरे सरदार को मसखरेपन के साथ पुकारा :

—"आओजी सरदारो ! रोट्टी खाओ फेर…"

—"छको जी बाद्शाओ, मैंनूँ ताँ कम्म ए अजे।"

दूसरा सरदार धूप में खड़ा इस होटलवालेके लिए गोश्त रखने की जालीवाली आलमारी बना रहा था, जिस पर वह लम्बे-लम्बे हाथों से रन्दा मिार रहा था और उस सरदार के चारों तरफ लकड़ी के फूल ही फूल बखरे पड़े थे।

—"किधर गयो सरदारा वो…"

वुदबुदाते हुए मोहन ने पूछा।

—"वाह ओए पुत्तरऽऽ…"

और छोटा सरदार बहुत जोर से हँस पड़ा। बाँयें हाथ से उसने मोहन-की पीठ पर एक धौल जमाया। दोनों ओर को डाढ़ों में अधकुचला वड़ा-सा कौर फँसा हँस रहा था।

—"ऐ की ओ सरदारा…"

होटलवाले पूरन ने पूछा जो कि बहुत मोटा आदमी था, बड़ी-बड़ी मूछें, कानों में सोने की दो छोटी मुरकियाँ, हल्की खशखशी डाढ़ी। गरम जर्सी पहने मछलियाँ धो रहा था।

—"ए त्वाडा पुत्तर मैंनू पुछ रया-सी के ओ कुड़ी किद्दर गयी? अजे जम्मया हुगा नई…"

और बात पूरी किये बिना ही वह छोटा सरदार अधखाया कौर घोड़ों की तरह चवाने लगा। उसके गाल हँस रहे थे, आँखें मुसकुरा रही थीं। और अपने मसखरेपन पर पेट में बल पड़ रहे थे।

इस छोटी-सी मण्डी में रोज ऐसा ही होता है। अलल सुबह घोड़ा-गाड़ियों, ठेलो पर सुँते बदन के पंजाबी जवान गोभी के फूल, मटर, मूली, साग-सब्जी ले आते हैं। साइकिलों पर टिन के डिब्बों में दूध आ जाता

है। चाय की हत्थेवाली लाल ठेलागाड़ियाँ चाय के पैकेट दे जाती हैं। बड़ी मण्डियों का पहाड़ी आलू इस छोटी मण्डी तक आते-आते दो दिनों में ही पिलपिला जाता है। छोले-टिकियाँवाले अपने बड़े-बड़े तवों पर डालडा में आलूकी टिकियाँ लाल सुर्ख किया करते हैं। होटलवाला पूरन, शनीवार को जब मुर्ग बनाता है तो उसमें की मिर्चों की धाँस से उस दमे के रोगी घड़ीसाज की खाँसते-खाँसते हालत खराब हो जाती है और घड़ी की अंतड़ियाँ देखनेवाला एक आँख का चश्मा गिर पड़ता है। साइकिलवाले लौंडे गन्दे पानी के तामचीनी के तसलों में पंचरों के बुलबुले दिनभर उठाया करते हैं। वह पंसारी गुड़ और छुहारों की चटाई लिपटी भेलियों पर बैठा हुआ लिखते में उधारी और देते में डंडी, दोनों ही मार देता है और वोऽऽ कोने में राशन का दुकान-नम्बर टाँगे छुटभैया सेठ, देसी को विदेसी और विदेसी को मुगलिया जमाने का कपड़ा बताकर अच्छों-अच्छों के कान काटने में होशियार है। तीसरे पहर रोज चाट खाता है और वह भी गद्दी पर ही मँगाकर। इनमें से अधिकतर लोगों के घर और दुकान यहीं हैं, इसीलिए मण्डी में घुसनेवाले रास्ते के ठीक दोनों ओर चाटवाले सरदारों ने अपनी मूँजकी खाटें टाँग रखी हैं। मण्डी में घुसने पर दोनों ओर खाटें ही खाटें—दुबली-पतली, लम्बी छोटी, पीली-भूरी, नयी-पुरानी, सभी तरह की, सोनेवालों की साइजों के लगभग।

वह मँगतन 'कुड़ी' दूध औटाते हुए मोहन के पास आकर अपने लाल फूलों भरे गन्दे पीले रङ्ग के घाघरे को दोनों टाँगों के अन्दर से पीछे फेंकती हुई बैठ गयी। घाघरा पीछे की ओर फूला-फूला घेरा बनाकर बिछल गया। दोनों घुटनों के ऊपर लाख के चूड़े भरे हाथ, कुहनी के बल खड़े हुए थे। पीठ पर बदबू देते हुए कपड़े में उसका बच्चा बँधा हुआ था। जिसकी दो काली-काली टाँगे धूल भरी झूल रही थीं और अब उन पर वे सारी मक्खियाँ वहाँ से उड़ती हुई आकर बैठ रही थीं, जहाँ पर हाथ धोनेवाले नल के कारण कीचड़ हो गयी थी और लोगों के पीले-पीले कफ पड़े थे।

'कुड़ी' के पैरों में खाल के देहाती जूते थे, जो खुद धूल भरे थे और उनमें के पैर भी। मैल और धूल की तहें, पिंडलियों तक के ऊँचे घाघरे के पास तक दिखायी दे रही थीं। सामने लटकन लिये मैली पचरंगी कसी हुई चोली, गले में लाल और ऊदे रंग की पोतमालाएँ और सिर के बालों में गुँथा हुआ राजस्थानी 'बोर'। ठिठुराया ठण्डा चेहरा, उभरी चौड़ी गालों की हड्डियाँ, कसा बदन, सुँता नाक-नक्शा और कानों में मैल खायी साँवलयी चाँदी के झूमर। मझोले कद की वह 'कुड़ी' इतना सब अपने साथ लिये थी।
—"दे दे रे बाबू, बासी बचा खुचा, बच्चा भूखा है।"

और कुड़ी ने बच्चे को पीठपर से खोलकर सामने बिठा दिया। झटके दे देकर गर्दन घुमाते हुए समझने की उम्रवाला बच्चा रुँआसे ओंठ बनाये बैठ गया।
—"अरी जा मालिक से माँग।"

और मोहन, सरदार की ओर देखने लगा जो नली चूस चुका था और जिसके मुँह से कच्चे प्याज की गन्ध आ रही थी।
—"ओ ए वीर सरदार! अपनी रोट्टियों में से कुछ दे दे रे।"

पलथी मारे हुए छोटे सरदार का वह रंगीन पजामा घुटनों तक चढ़ा हुआ था और उसमें से उसकी हरी नसों भरी पिंडलियाँ चमक रही थीं।
—"ओ गाना गा दे कुड़िये! 'छुप छुप छैयाँ' रोट्टी बचेगी तो दे देंगे। इतने दिनों कहाँ थी?"

बालों में कहीं जूँ या मैल काट रही थी और छोटा सरदार साफे के बीच में कहीं खुजलाने में लग गया।
—"तुझे क्या, मैं कहीं भी थी।"

छोटा सरदार झेंप गया।

कुड़ी गाने लगी :

"जसोदाँ के दो-दो लाल
बलभादर-गिरधारी"

मुरकियोंवाले पूरन को मजा आ गया। वह अपनी तहमद सम्हालते हुए बोला :

—"ए कुड़िए ! भजन नई वो·····'देखो जालिम है कितना जमाना'·····"

यह कहते हुए अपनी मोटी तोंद, पानी की मशक की तरह भदभदी फूली लिये टिन की कुर्सी पर आकर घुटनों तक तहमद चढ़ाये, कान कुरेदने लगा।

'कुड़ी' के पेटमें आरियाँ चल रही थीं।

—"पेले कुछ बचाखुचा बासी दे दे बाबू ! फेर जो तू केगा गा दूँगी।"

—"इक रोटी है कुड़िये ! साग तो खतम हो गयी।"

छोटे सरदार ने कुड़ी के फैले हाथों पर चने मिली आटे की पीलिया रोटी झिला दी। पूरन ने रात का बासी थोड़ा-सा चावल और उड़द की दाल मँगवा दी। बच्चा, अपनी हथेलियों से कागज पर का चावल और दाल मुँह में ठूँसता जा रहा था और कुड़ी रोटी के कौर निगल रही थी। भूख की लाल आँच की लहकती भट्टी में बित्तो-सी रोटी की क्या बिसात !! भुर-भुरा कर रह गयी। दो अँगुली की चुटकी से, बच्चे के द्वारा गिराया हुआ जमीन पर का एक-एक कण वह वैसे ही बीन गयी जैसे कि मुर्गी। कागज पर दी गयी दाल और बच्चे की सनी हुई अँगुलियाँ भी एक-एक करके चाट गयी। मोहन ने टंकी का नल खोल दिया। उसने ओख से खुद पानी पिया और बच्चे को पिलाया। लुगड़े के पल्लू से मुँह पोंछ उसी दूधवाली ऊँची भट्टी के पास वैसे ही घाघरे का घेर बनाकर बैठ गयी।

कुड़ी इधर बहुत कम आती है, और फिर उसके दूसरे डेरेवाले भी पहाड़गंज, करौल बाग ही ज्यादातर रहते हैं। कभी भूले-भटके खैबरपास निकल गये या नयी दिल्ली की तरफ आ गये। सही बात तो यह कि नयी दिल्ली में आते वैसे भी उसे डर लगता है। जब वो अपने जिले से आयी थी, "तब भीख थोड़े ही माँगती थी ! अरे, बादाम, अखरोट, चिलगोजे,

कभी शहद कभी क्या बेचा करती थी। पर यह सब तो पुरानी बात हो गयी, दो बरस पेले की। तब ये लौंडा थोड़े ही था—
—नासमिटे उस बाबूका जो घरमें बुला के सौदा लेना तो दूर और ये—"

फिर आज तो सच्ची बात यह है कि नयी दिल्ली की इन 'बीबी जी' से तो वे चाँदनी चौक, करौलबाग, फतेपुरी की 'बेण जी' और "बहूजी" में ज्यादा दया-माया होती है। बीबीजियाँ खुद एक रुपया गालों पर पोत लेंगी पर देने के नाम कानी कौड़ी भी नहीं। फिर भला क्यों ऐसे ही कोई अपने पैर दुखाए ? और पुलिस का जमादार बीड़ी-पान की धौंस-की-धौंस दे और ऊपर से डंडा भी पीठ पर। ना बाबू, ऐसे किसी का चमड़ा फालतू नहीं। फिर भी घूमते-फिरते "बंगाली मारकिट" हुआ आ गये तो फिर इस मण्डी में भी 'बचा-खुचा' माँगने आ जाते हैं।

कुड़ी ने देखा कि उसे घेरकर बहुत से लोग खड़े हुए उसके गाने का रास्ता देख रहे हैं। तभी सैलूनवाले उस पिचके गाल के नाई ने, जो कि बेंच पर एक टाँग उठाये खड़ा था, पूछा :
—"क्या नाम है तेरा ?"

कुड़ी ने पीठ और मुँह घुमाकर पूछनेवाले की ओर देखा। सैलूनवाले नाई के ठिठुरे चेहरे की लम्बी हड्डियों में हल्की लाली आ गयी।

भीड़ हँस पड़ी। छोटा सरदार, जो खाने के बाद धूप खा चुका था और जिसके बदन में अब चींटियाँ रेंग रही थीं, अपनी कमीज के अन्दर खुजलाते हुए पूछ उठा :
—"ए कुड़ी ! कहाँ रहती है ?"

कुड़ी ने अपने कमसिन दाता की ओर देखा। पूरन होटलवाला अपने पेटको भी हँसाता हुआ बोला :
—"सानूँ की करना ए सरदाराऽऽ।"

चाय का एजेन्ट जो अभी-अभी अपनी दूकान खोलकर आया था, इस

गुलगपाड़े में शामिल हो गया और अपने चश्मे को पीछे की ओर ढकेलते हुए बोला :

—"क्यों सरदार जी ! शादी करोगे? बीबीकी बीबी और मुनाफे में बच्चा।"

भीड़ को इतनी देर बाद मजा आया था। गाने में शायद ऐसा न आता। कोई किसी के कन्धे पर हँसते हुए हाथ फटकार रहा था तो कोई दोनों हाथ ऊपर किये :

—"खी-खी-खी-खी-ई—"

—"खो-खो-खो-खो—"

—"हे एं आँ—हे एं अँ—हें ए अँ—"

छोटा सरदार लाल सुर्ख हो गया। कान जलने लगे।

हँसी के बीच कोई आवाज बनाते किसी की पीठ की आड़ लेकर चिल्लाया,

—"ओ ए सरदार ! तेरे बाप दे वी कम्म आजास्सी।"

और अब लोग घुटनों पर झुक-झुककर हँस रहे थे,

पेट पकड़-पकड़ कर हँस रहे थे,

पैर पटक-पटक कर हँस रहे थे,

और घूम-घूमकर हँस रहे थे,

कमसिन छोटा सरदार, भीड़ को भौंचक होकर देख रहा था। कुड़ी, भीड़ द्वारा प्रस्तावित 'पति' को देख रही थी। और कुड़ी का बच्चा, हँसी के इस रेले में माँ को देख-देखकर रो रहा था।

लुटभैया सेठ का मँजरी आँखोंवाला लौंडा बोला :

—"ए सरदार ! बच्चे को गोद में ले लो ना, मचल गया है।"

अब छोटा सरदार बेंच के ऊपर खड़ा होकर गालियाँ देने पर आ गया था।

—"ओ चुप वी कर पुत्तर ! हुन गाना नई उ सुनना ?"

पूरन होटलवाला बिगड़कर बोला, क्योंकि लोग उसके गाने का प्रोग्राम बिगाड़े दे रहे थे। भीड़ खामोश हो गयी। किसी ने मुर्गा बुला दिया :

—"कु कु डु क्कूँ ! !"

चायवाले ने छेड़ते हुए कहा :

—"ए पूरन ! सरदार झेंपता है। तुम्ही पूछ लो किसका बेटा है ?"

भीड़ फिरसे हँसने के लिए अभी कमीजों के बटन सम्हाल ही रही थी, नीचे खिसके पाजामे पेट पर चढ़ा ही रही थी कि कुड़ी झटका खाकर उठी। वह एड़ियों पर ऐंठ गयी, चोली कस उठी, रानो के कटाव खिंच गये और पिंडलियोंमें जमें दही से थर बन गये।

—"ऐ बाबू ! बहुत बाप वाला न बन समझे। अपने माँ से पूछना कि तू किसका बेटा है ? नाराज न होना''''गरीबोंके बेटोंका बाप नहीं होता बाबू ! वे माँ के ही बेटे होते हैं।"

और कुड़ीका पिंडलियों तक का घने घेर का घाघरा हिलता हुआ चला जा रहा था।

निशाऽऽजी



नि शा ऽ ऽ जी

निशाऽऽजी

मेरे सामने बैठी उदास बादल-सी इस नारीसे क्या कह सकता हूँ ? जिसकी इस सुखी 'देवदार्स' काटेज में, अनायास जनवरी की इस शाम बादल और धुन्ध घिर आये हैं। कुहरा और तेज ठंडी हवावाले बादल, निशा के कमरे की एक-एक चीज, खिलौने, गुलाबी कनटोपेवाले निशा के फोटो, उसके जूते, खरगोशों तथा सफेद चूहों पर रेंग रहे हैं। एक्वेरियम की रंगीन मछलियाँ रेंगते बादलों में डूब गयी हैं। गौरा का सुख, इन गीले ब दलों के नरम किन्तु अभेद्य अनन्त में निशा के साथ चला गया है। उस दिन मैंने जिस सहज लयात्मक ढंगसे 'निशाऽऽजी' पुकारा था वह कमरे में आये आज के इन बादलों के साथ लौटकर मेरे कानों में बज रहा है;
——निशाऽऽजी !

जनवरी की इस शाम के इन बादलों में, निशा के उन लाल जूतों की मुलायम छोटी बुलबुली "खट्-खट्" दुहरती-तिहरती कानों के पास बज रही है। ऐसा लगता है जैसे इस कुहरे में कहीं कोई छोटा मुँह दूध की बोतल पी रहा है।

मेरे सामने बैठी उदास-सी इस गौरा से क्या कह सकता हूँ ? मैं नहीं समझता कि इसे किसी भी समवेदना या सहानुभूति की अपेक्षा है। कुछ भी कहना, उसके दुःखको झुठलाना है।

आजसे चार बरस पूर्व डलहौजी की बस में पास के सीट पर यह गौरा अपने पति राघव और एक बरस की निशा के साथ बैठी हुई रास्तेभर कै-मितली करती आयी थी। पहाड़ घूमने नहीं बल्कि डलहौजी के डिफेन्स स्टेब्लिशमेन्ट की प्रयोगशाला में केमिस्ट बनकर राघव, सपरिवार जा रहा था।

सम्भवत: सभी कुछ नया था—पत्नी, बच्ची, नौकरी, स्थान तथा जीवन का श्रीगणेश। नये दम्पति कैसे नहाये-नहाये-से, धुले ताजे से लगते हैं। मैं भी पहली बार डलहौजी जा रहा था। दो दिन यहाँ वहाँ घूमता रहा। एक शाम पोस्ट आफिस में खड़ा पत्र लिख रहा था कि राघव-परिवार से भेंट हो गयी।

—"नमस्कार कार्तिक बाबू ! कहिए कहाँ ठहरे हैं ?"

—"माउन्ट व्यू में। आप लोग तो ठीक हैं ?"

—"मैं अभी आया।"

राघव चिट्ठियों में टिकट लगाने में व्यस्त हो गया। गुलाबी कनटोपे में लाल गुलाब-सी निशा, नीले फर के कम्बल में लिपटी टुकुर-टुकुर ताक रही थी।

—"लाइए मुझे दे दीजिए कुछ देर।"

गौरा निशा को देने में पहले तो झिझकी, लेकिन मेरी बढ़ी हुई बाँहों में अजीब सुखी-संकोच के साथ देते हुए बोली :

—"देखिए, आपके कपड़े न खराब कर दे।"

कम्बल और दूसरे ऊनी कपड़ों में पता ही नहीं चल रहा था कि निशा कहाँ है, कहाँ से है और कहाँ तक है। तब तक राघव लौट आया। देखते ही हँसते हुए बोला :

—"वाह, यह भी खूब। तुमसे तो जरा भी बोझ नहीं उठता।"

गौरा बेचारी पति की बात से और सकुचा गयी।

—"मैं तो मना कर रही थी लेकिन····"

—"तो क्या हुआ। लड़की लेकर कहीं भाग तो नहीं रहा हूँ।"

मेरी इस बातसे राघव झेंप गया।

—"मेरा मतलब था कार्तिक बाबू कि····"

—"कोई बात नहीं राघव बाबू ! निशा को ले जाना होगा तो माँग लूँगा। आइए चलें।"

—"किधर जा रहे थे आप लोग ?"

—"जाना कहाँ था । पहुँच की चिट्ठियाँ देनी थीं । आप यहाँ कब तक हैं ?"

—"सोचता हूँ दो एक दिन और रुकूँ ।"

—"तो आइए न किसी दिन । हम लोगों के साथ ही चाय पीजिए ।" गौरा ने आमन्त्रण देते हुए पति की ओर देखा ।

—"हाँ और क्या ! कल शाम ही आइए ।"

—"पहले गृहस्थी तो ठीक से जमा लीजिए गौराजी ! तब मेहमानों को बुलाइएगा ।"

—"आपकी चाय के लिए बहुत बड़ी गृहस्थी की जरूरत नहीं है कार्तिक बाबू !"

गौरा मुझे चतुर लगी । हम लोग बढ़ते हुए सुभाष-चौक निकल आये थे ।

—"आप लोगों को घर कहाँ मिला है ?"

राघव अपना घर दिखाने के लिए चारों ओर तलहटी में बसे डलहौजी में खोजने की व्यर्थ चेष्टा करने लगा । मैं हँस पड़ा, बोला :

—"क्या आप ऊपर खड़े होकर लाल-हरी छतों के द्वारा पहाड़ों में अपना निवास-स्थान खोज लिया करते हैं ?"

—"मैं तो जीवन में पहली बार किसी पहाड़ पर आया हूँ और वह भी सर्दियोंमें ।"

परेशान राघव पर हँसते हुए मैंने कहा :

—"और वह भी घूमने, नहीं रहने ।"

निशा लेते हुए राघव ने कहा :

—"अभी से अंकल को पहचान लो ।"

मैंने देखा कि गौरा के मुख पर अत्यन्त तुष्टि थी ।

—"अच्छा, गौरा जी ।"

—"तो कल शाम आइएगा न ?"

गौरा ने पूछा । राघव ने तुरन्त कहा :

—"आप वहीं डिफेन्स लबोरेटरी आ जाइएगा । साथ ही चलेंगे ।"

और राघव तथा गौरा अपनी निशा लिये, दाहिने हाथ, देवदार की घनी छाँहोंवाले रास्ते से नीचे उतरते चले गये ।

जिस समय राघव के साथ उसके बासे पर पहुँचा, आकाश में लाल-पीले रंगों के तथा सामने के हिमानीरंजित शिखरों के शेष सब कृष्णा रहा था । दिन में बरफ गिरी थी और इस समय सब खुल आया था तथा तेज ठण्डी हवा भी थी । जगह-जगह देवदारों में बरफ लदी हुई थी । राघव के इस कमरे से दूर के हिमानी शिखर, देवदार भरी द्रोणियाँ—निकोलस रोरिक का चित्र लग रही थीं । ताजी बसी गृहस्थी में अधिक सामान ही क्या था, लेकिन गौरा ने उस 'जो कुछ' को भी सुषमित कर दिया था । फायर-प्लेस के ऊपर निशा की एक फ्रेमित छवि रखी हुई थी । ऊनी कनटोपे में पलकें मींचे निशा की उस छवि के दोनों ओर कुछ खिलौने सजाये गये थे । दीवार पर राघव–गौरा का विवाह–शैलीवाला एक फोटो कीलों पर टिका था । फायर-प्लेस में आग ताजी कर दी गयी थी । कोने में एक तरफ साफ सुथरे पलँग पर निशा, अपने उसी फरवाले नीले कम्बल में तथा गुलाबी कनटोपे में छोटी सी रेशमी दुलाई ओढ़े सोयी थी । इस घर की वस्तुओं तथा व्यक्तियों तक से ताजी बसायी जाने वाली गृहस्थी की गंध आ रही थी। टीकोजी, कप, ट्रे, चम्मच, चादर, गिलाफ, नेपकिन, सबमें नयेपन की कड़क और खरखरापन था । नये कपड़े में जो एक माँड़ की गंध होती है, जो उसे नया बनाती है, बस वही 'देवदार्स' काटेज लग रही थी । और तो और, पहली बार नारी के माँ बनने पर जो दूध की गंध उसमें से आती है, बच्चे में से आती है वह दुबारा कभी नहीं आती ।

दूसरे वर्ष डलहौजी न जा सका । बात आयी-गयी सी ही हो जाती लेकिन पता नहीं क्यों, उस शाम राघव-दम्पति के यहाँ चाय पीते हुए निशा को गौरा जिस प्रकार फीडिंग-बाटल से दूध पिला रही थी, वह रह-रह कर अन्तस में खुभ उठता था । निपिल मुँह में डाले निशा जिस प्रकार अपने दोनों ओठों से दूध चूस रही थी तथा चूसते में हिलती उसकी संगमर-

मर की तरह चिकनी लाल ठोढ़ी, वह अजीब तरहसे घिर आती थी। प्रत्येक हवाके चलने के साथ जब खिड़कियों के पल्ले बोलने लगते, तब लगता कि—'देवदार्स' में भी इस समय हवा चल रही होगी और अगर गौरा उस कमरे में न हुई तथा खिड़कियाँ खुली रह गयीं होंगीं तो निशा कहीं सर्दी न खा जाए। लेटी हुई निशा का हाथ-पैर फेंकना तथा उछालना बराबर याद आता रहा।

लेकिन दूसरे वर्ष डलहौजी न जा सका।

जब तीसरे वर्ष डलहौजी पहुँचा तो उस दिन इकतीस दिसम्बर थी। क्रिसमस मनाया जा चुका था। जगह-जगह देवदारों में लम्बी-लम्बी झंडियों की रंगीन बंदनवारें सजी हुई थीं, जैसे पहाड़ों के कण्ठों को सजाया गया हो। बरफ झर रही थी। देवदारों की प्रलंबित शाखों में बरफ, कपड़ों सी उनमें या उन पर लटकी या टिकी हुई थी। एकदम सुहाना तापमान था। 'माउन्ट व्यू' होटल के सामने के स्कूल में छुट्टियों के बावजूद भी नव वर्ष की तैयारी में उत्सव हो रहा था। मैदान में बरफ बिछी थी। अन्दर हाल में बैण्ड बज रहा था और लोगों की भीड़ थी। जिस समय मैं वहाँ पहुँचा नृत्यधुन पर लोग जोड़ों में जोरों पर नाच रहे थे। स्कूल के प्रिन्सिपल श्री फ्रेंक परिचित थे। मुझे देख प्रसन्न हो अपने साथ लिवा ले गये और मैं खिड़की के पास खड़ा उत्सवप्रियता देख रहा था। तभी किसी ने भीड़ में से चिल्लाया :

—"नीला आकाश !"

—"साँझकी धूप !!"

—"हुर्रा !!!"

और लोग बेतहाशा बाहर मैदान की ओर दौड़ पड़े तथा बरफ पर नाचने लगे। बैण्डवाले भी भीड़ के साथ बाजे लिये मैदान में निकल आये। तभी मैंने प्रवेश-द्वार के वहाँ राघव, गौरा और निशा को प्रवेशते देखा। निशा

सिर से पैर तक लाल कनटोपे से लेकर लाल रंग की तंग पतलून में थी तथा एक बड़ा-सा गुब्बारा पकड़े थी ।

कितनी बड़ी हो गयी थी न ? अब जैसे हर चीज ने रूप पकड़ लिया था। नाक राघव की भाँति तीखी निकलेगी। गनीमत थी कि गौरा की भाँति बड़ी आँखें थीं। उस दिन निपिल चूसते ओठ अब कितने स्वरूपित होने लगे थे।

तब तक राघव और गौरा ने भी देख लिया ।

—"अरे, आप कब आये कार्तिक बाबू ?"

राघव ने आश्चर्य प्रसन्नता के साथ कहा। निशा अपने पापा की अँगुली पकड़े टुकुर-टुकुर देख रही थी। मैंने उसकी ओर मुसकुराते हुए एक हाथ की अँगुलियाँ चलाते हुए गौरा से कहा :

—"कहिए कैसी हैं गौरा जी ? अब गृहस्थी चाय पिलाने से आगे की जमी कि नहीं ?"

—"आपको खाना खिलाया जा सके इतनी तो पिछले बरस ही जम गयी थी।"

और हम सब हँस उठे ।

"आपकी निशाजी तो बड़ी हो गयीं अब ।"

—"हमने तो उसी दिन से इसे इसके अंकल को दे दिया था ।"

गौरा ने मेरी बात का उत्तर दिया ।

—"अब भी मौका है, सोच-समझ लीजिए ।"

मैं हँसते हुए बोला और निशा को अपनी ओर बुलाने लगा ।

—"आप क्या खाएँगी निशा जी ?"

पहले तो वह मेरा प्रश्न समझने की चेष्टा करने लगी और फिर अपने पापा की ओर देखने लगी। राघव ने उसे अपनी ओर देखते हुए देखकर कहा:

—"अरे, अंकल को नमस्कार नहीं किया ? जबाब दो, अंकल क्या पूछ रहे हैं ?"

निशा सम्भवतः इतने शोर शराबे तथा एक नितान्त अपरिचित व्यक्ति को देख असुविधा अनुभव कर रही थी ।

—"जाने दीजिए, बच्चों को अपनी मर्जी से सब करने देना चाहिए ।"

हम लोग फिर अपनी बातों पर आ गये। गौराने पूछा :

—"आप यहाँ कब आये ?"

—"आप कब सोचती हैं कि मैं आया हूँगा ?"

गौरा न जाने क्यों मेरे प्रश्नपर स्वल्प लजा गयी। बोली :

—"आप पिछली सर्दियोंमें तो नहीं आये थे न ?"

—"नहीं तो। क्यों ?"

—"ऐसे ही। राघव कह रहे थे कि आप आये होंगे।"

मैंने मार्क किया कि गौरा ने संभवत: अब अपने पति को 'राघव' कहना सीख लिया है। उस बरस दोनों के मुखों में जो लालसा, ताजापन था वह अब स्थिरता प्राप्त कर चुका था। वे दोनों अब एकसे लग रहे थे। पुराने पड़ते जानेपर पति-पत्नी न जाने क्यों पसीने से लेकर वार्तालाप के ढंग तक में एकसे लगने लगते हैं।

राघव झेंपकर बोला :

—"नहीं गौरा ! मैंने तो कहा था कि शायद आये हों कार्तिक बाबू !"

मैंने दोनों की उलझन दूर करने के ख्यालसे कहा :

—"आइए निशाजी ! आपको डान्स दिखाएँ। आपको डान्स आता है ?"

लेकिन निशा ने मेरी बात का कोई उत्तर नहीं दिया। हम लोग सब जाकर दरवाजे में खड़े हो मैदान में नाचते लोगों तथा बैण्ड को सुनते रहे।

मैं उन्हें अपने होटल ले आया। प्रस्ताव मात्र चाय का था, क्योंकि मैदान में हो रहा नाच, होटल की बाल्कनी में बैठकर और अधिक अच्छे ढंगसे देखा जा सकता था। हवा तेज हो आयी थी लेकिन आकाश खूब नीला खिल आया था। जाती हुई धूप में पश्चिम, पीले रेशमी पर्दे सा हो आया था। लकड़ी का जीना चढ़ने के पहले मैंने निशासे कहा कि आओ तुम्हें गोदी में ले लें, लेकिन उसने इन्कार कर दिया। वह अपने पापा की अँगुली पकड़े बच्चों की तरह, एक सीढ़ी पर पहुँचने के बाद फिर अगली सीढ़ी पर चढ़ती हुई चढ़ने लगी।

हम लोग बाल्कनी में बैठे चाय पीते हुए यहाँ-वहाँ की बातें करते रहे। बाल्कनी से मीलों तक दोनों ओर की तलहटी तथा बरफ के शिखर दिख रहे थे। जाती हुई धूप से तलहटी रँग उठी थी। बैण्ड बन्द हो गया था और अब माउथआरगन पर नृत्यधुन छिड़ी हुई थी। गौरा-राघव को शुरू-शुरू में यहाँ जितना एकान्त उबाता था अब उतना नहीं। निशा के कामों से ही गौरा को फुर्सत नहीं मिल पाती है। इस साल उसे नर्सरी मे भर्ती करवाया जाएगा। गौरा उसे खुद घर पर पढ़ाती है। नर्सरी-राईम्स तो उसे अभी ही कण्ठाग्र हो चुकी हैं। राघव ने निशा को बड़ा निडर बना रखा है। किसी भी जानवर को पकड़ने में नहीं हिचकिचाती। गौरा को बड़ा डर लगा रहता है क्योंकि विषैले जन-जनावर तो आये दिन निकलते सुनती है वह। निशा के मन से डर निकालने के ख्याल से ही राघव ने चूहा, खरगोश, तोता ला दिये हैं। दिन भर उन्हें जेब मे रखे घूमा करती है। एक दिन कर्नल गुहा के घर मछलियाँ क्या देख आयी है, आफत किये है। यहाँ तो एक्वेरियम मिलता नहीं। किसी दिल्ली आने-जानेवाले के हाथ मँगवाना है।

इस बीच कम से कम मुझे निशा का ध्यान नहीं रह गया था। गौरा चौंकी कि कहाँ गयी ? और हम सबने देखा कि वह एक बिल्ली के बच्चे को गर्दन के यहाँ से पकड़े चली आ रही थी।

—"यह क्या निशा ? छोड़ो उसे।"

—"ममी जी ! बिल्ली।"

—"छोड़ो उसे, काट खाएगी।"

गौरा की बात पर संभवतः निशा को विश्वास नहीं हुआ। उसने राघव की ओर देखा और पूछा :

—"बिल्ली कात खाएगी पापा जी ?"

—"कौन कहता है ? लेकिन उसे गले से न पकड़ो।"

हल्की डरी निशा के चेहरे पर आश्वस्तता आयी और उसने चूहे जैसे लटके बिल्ली के बच्चे को लहसे जमीन पर पटक दिया। बच्चा 'म्याऊँ'

बोला और भाग गया। निशा भागते बच्चे को कुछ क्षण तो देखती रही फिर सहसा राघव की टाँग पर हाथ टिका झूलती हुई बोली :

—"पापा जी, यहाँ बत्ते तो हैं नहीं हम किछके छात खेलें ?,"

और हम सब हँस दिये। मैंने कहा :

—"आइए, हमारे साथ खेलिए।"

—"हिश्ट् !!"

और वह मुँह पर हथेली रख हँसने लगी। तभी गौरा बोली :

—"आप कब तक हैं यहाँ ?"

—"अभी दो एक दिन तो हूँ ही।"

—"कल वैसे आपका क्या कार्यक्रम है ?"

राघव ने जेब से दस्ताने निकालते हुए पूछा।

—"कुछ खास तो नहीं। कल आप लोग यहीं खाना खाइए।"

गौरा मेरी बात पर हँस दी, बोली :

—"वाह, यह कैसे हो सकता है ? राघव ! कल कार्तिक बाबू शाम को हम लोगों के साथ ही खाना खाएँ।"

—"हाँ हाँ मैं तो यह भी कहना चाहता था कि अपराह्न की चाय भी। चाय के बाद घूमने चला जाएगा।"

पति की बात गौरा ने आगे बढ़ाते हुए कहा :

—"हाँ, और क्या। इसी बहाने हम लोग भी थोड़ा घूम आएँगे। और आप दिन भर होटलमें क्या करिएगा ?"

मुझे गौरा की बात पर हँसी आ गयी। जैसे डलहौजी मैं होटल में बन्द रहने के लिए ही तो आया हूँ। तभी निशा ने राघवसे कहा :

—"पापा जी, घल चलिए।"

—"अंकल से कहो कि कल आप हमारे यहाँ आइए और हम आपको पोएम्स सुनाएँगे.। खिलौने दिखाएँगे।"

निशा मेरी ओर देखने लगी। मैंने कहा :

—"सुना, आपके पास खूब सारे खिलौने हैं।"

निशा ने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

—"आप हमको पोएम्स सुनाएँगी ?"

निशा ने अस्वीकृति में सिर हिला दिया।

—"तो हम आपके यहाँ आएँ कि नहीं ?"

—"आइए, थपेद तुआ है हमाले पाछ।"

—"अच्छा ?"

और पहाड़ी सँकरे रास्ते पर राघव तथा गौरा का हाथ पकड़े लाल कनटोपे तथा लाल पतलून में निशा नीचे उतरती चली गयी। कितने ही छोटे पैर क्यों न हों बड़ी से बड़ी दूरी तथा कैसा ही रास्ता नाप लेते हैं। जाती धूप जा चुकी थी। लाल पीली छतों से धुआँ, शरमाया-शरमाया सा उठता हुआ छितरा रहा था। इस बीच स्कूल की उत्सवप्रियता समाप्त हो चुकी थी। डलहौजी पर जैसे सन्नाटा छाया हुआ था। हवा थम चुकी थी। ठण्ड जैसे जमी जा रही थी। नीचे तलहटीमें डिफेन्स कार्यालयका गुम्बद, आस-पास के मकानों में स्केच बना हुआ था। तलहटी में कभी किसीका बोलना सुन पड़ता। शेष पर साँझ का दुःख व्याप्त था।

नव वर्ष के दिन का मौसम अनायास अच्छा था। धूप, आकाश सब एकदम निरभ्र स्वच्छ थे। 'देवदार्स' के छोटेसे लान में निशा फुटबाल खेल रही थी। कई रंग की गेंद, फेंसिंग से टकरा कर वापस आ जाती। दूर जाने पर आया उठा ले आती। हरे स्लैक पर सफेद लम्बी कालरें हवा में उड़-उड़ पड़तीं। कल भी मैंने मार्क किया था कि उसका रिबन हमेशा बायीं ओर झुक जाता। मुझे देखते ही उसकी आँखें सहसा हँसी से भर उठीं और वह ताली बजाती 'ममीजी ! अंकल आये हैं' चीखती अन्दर भागी। जब वह भागी तब मेरा ध्यान गया कि उसने स्लैक की जेबों में सफेद चूहे भर रखे थे। गौरा को वह साड़ी से घसीटते लायी। मुझे देखते ही बोली :

—"आइए, लेकिन यह सब क्या ? किसलिए ?"

—"देखिए ? इस बारे में कृपया आगे कुछ न कहें।"

मुझे बड़ी असुविधा हो रही थी क्योंकि गौरा मेरे हाथ की बेबी साइ-किल, टाफियाँ तथा गुब्बारे देखे जा रही थी ।

—"ठीक है, भीतर तो आइए ।"

कमरे में खिड़की के पास ही बेंत का एक सोफा-सेट तथा गोल टेबल थी । बाकी यह निशा का अपना कमरा लग रहा था । निशा के लिए बेबी सोफा-सेट से लेकर आल्मारी, अलगनी, पलँग, नीली मसहरी तक मौजूद थी । मेंटलपीस पर दीवार में एक बड़ा सा तैलचित्र निशा का टँगा हुआ था । कई तरह के फोटो मेंटलपीस पर आ गये थे । आलमारी में ऊपर से नीचे तक निशा के कपड़ों से लेकर खिलौने रखे हुए थे । मेंटलपीस के सामने बेबी-रेल की पटरियाँ बिछी हुई थीं जिस पर इंजिन अपने डिब्बों के साथ खड़ा हुआ था । कोने में पत्थरों का पहाड़ था । उस पर लकड़ी के मकान तथा रास्ते बने हुए थे, जिस पर निशा की 'पली लानी' रहती है !

तभी गौरा बोली :

—"राघव जरा लेबोर्टरी गये हैं आते होंगे । मैं अभी आती हूँ ।"

—"कोई बात नहीं, निशा जी तो हैं ही ।"

गौरा हँसते हुए बोली :

—"देखो निशा ! अंकल को ज्यादा परेशान न करना, समझी, अंकल को पोएम्स सुनाना, फिर घूमने चलेंगे, हाँ !!"

और निशा ने अपने को कमर तक हिला कर स्वीकृति दी । गौरा हँसते हुए लौट गयी । अब कमरे में निशा थी, उसके खिलौने थे और नव वर्ष की धूप थी । सर्दियों का गहरा नीला आकाश जँगलों से दिखायी दे रहा था । कभी किसी पहाड़ी पक्षी का स्वर, इस शान्त अपराह्न में सुनायी पड़ जाता या फिर ऊँची मँडराती चीलों की सपाटे मारती काली छाया बरफ की पृष्ठ-भूमि में खिच जाती । मैंने निशा से पूछा :

—"ये आप ही का कमरा है न निशा जी ?"

गोद में गेंद और स्लेक में सफेद चूहे ठूँसे निशा अभी तक स्पष्ट नहीं

थी। मेरे प्रश्न पर उसने मात्र सिर हिला दिया जबकि उसकी दृष्टि गुब्बारे पर थी।

—"आपके पास तो खूब सारे खिलौने हैं। है न ?"

—"इत्ते छाले !!"

और अनुपात बताने के लिए एड़ियाँ उठाकर बाँहें फैला दीं। गोद की गेंद इस बीच गिर गयी और लुढ़कती दरवाजे की तरफ चली गयी। निशा ने एकबार तो लुढ़कती गेंद की ओर देखा और फिर मेरी ओर देखकर फीका-फीका सा हँस दिया। मैं भी हँस दिया।

—"आपको गेंद ला दें ?"

उसने हँसती आँखों से ही अस्वीकृतिवाला सिर हिला दिया।

—"आप गुब्बारा लेंगी ?"

मेरे प्रश्न पर उसने अपने कमरे में टँगे गुब्बारे की ओर देखा जो कि क्रिसमस में टाँगा गया होगा क्योंकि अब उसकी हवा कम होगयी थी और वह झुर्रियाँ में फूला था।

—"जब पापाजी आएँ तो कहना कि यह गुब्बारा टाँग दीजिए, समझीं ?"

उसने हाँमी भरी।

—"ये आपकी जेबमें क्या है ?"

—"तुआ।"

उसने दोनों चूहे गर्दन से पकड़ दोनों हाथों में झुलाकर दिखाये।

—"क्या नाम हैं चूहों के ?"

—"तुओं के भी नाम होते हैं !"

और वह मेरे मूर्खतापूर्ण प्रश्न पर हँस दी।

—"अच्छा !! ये तो सफेद चूहे हैं न ?"

—"दो औल हैं, लाएँ ?"

वह गर्दन से झूलते चूहे पकड़े भाग गयी। एक सफेद तीलियोंवाले पिंजरे में चारों चूहे लिये वह बड़ी सावधानी से पंजों पर चलती लौटी।

एक क्षण तो वह रुकी और उसने झटके से पिंजरा फेंकते हुए कहा :

—"खलगोछ देखा है आपने ?"

—"खरगोश ? खरगोश क्या होता है निशाजी ?"

—"खलगोछ नहीं देखा ? इत्ते बले होगए औल खलगोछ नहीं देखा ?"

और वह आँखें बन्दकर इस बार बहुत जोर से हँस उठी। तभी उसे ध्यान आया कि जोरों से नहीं हँसना चाहिए इसलिए हथेलियों से मुँह ढँक लिया। उसके दोनों हँसते गाल हथेलियों के बाहर फूट आये। वह अन्दर भाग गयी। इस बार आया उसे बरज रही थी लेकिन वह चीखे जा रही थी कि 'वो जो अंकल आये हैं न बड़े से, उन्होंने खरगोश नहीं देखा है।' शायद गोरा ने आया से ले जाने देने के लिए कहा। कानों के यहाँ से पकड़े निशा दो खरगोशों के साथ शैतानी हँसी ओठों में दाबे, बिल्लियों की तरह गुद्दीदार चलते हुए आयी और मेरी गोदी में उन्हें फेंकते हुए बोली :

—"खलगोछ भी नहीं जानते।"

जैसे मेरी भर्त्सना की गयी थी।

—"इस तरह खरगोश फेंकने से ये मर जाते हैं।"

—"हिश्ट्, खलगोछ भी कहीं मलता है ?"

—"अच्छा यह बताइए कि आपको साइकिल आती है ?"

—"हमाली छाइकिल आया ने तोल दी।"

—"अच्छा !! तो आप यह साइकिल ले लीजिए।"

मैंने साइकिल की ओर संकेत कर उसका ध्यान दिलाया।

—"हिश्ट् , वो तो आपकी है।"

खरगोश ने धक्के से रेल गिरा दी। निशा अपनी रेल की तरफ दौड़ी। रेल में चाभी देते हुए बोली :

—"ये खलगोछ भोत छेतान है।"

और पटरियों पर रेल जमाने के लिए वह घुटने टिकाये झुकी थी। रेल किरकिर कर रही थी। आखिरकार रेल दौड़ने लगी।

—"ये छच्चमुच की लेल है।"

—"आपकी रेल कहाँ जाती है ?"

निशा उसी तरह झुकी थी तथा अपनी दौड़ती रेल की ओर देखते हुए ही बोली :

—"पापाजी के आपिछ।"

—"दिल्ली नहीं जाती ?"

—"नहीं, ममीजी नहीं जाने देतीं, कहती हैं हमाली लेल वहाँ कुचल जाएगी।"

मैं हँसने को हुआ लेकिन तभी जाने कैसे गुब्बारा आवाज के साथ फूट गया। निशा अवाक् हो आयी। पहले तो वह प्रसन्न-आश्चर्यसे मुस्कुरायी, लेकिन हठात् आँखें छलछला आयीं। अधरोष्ठ गोल हो आया। रोते हुए बोली :

"—गुब्बाला फूत गया अंकल !"

—"कोई बात नहीं, दूसरा आ जाएगा।"

लेकिन वह तद्वत् रोते हुए बोले जा रही थी :

—"गुब्बाला फूत गया।"

—"तो इसमें रोने की क्या बात है ? आपको कितने चाहिए ?"

रोना अधूरा ही छोड़ वह भरी-भरी आँखों से ताकने लगी। नरम पत्तियोंवाला अधरोष्ठ तथा महीन भौहें पुनः घुलने लगे। ओठों के कोने गाल में धँसने शुरू हुए। मुसकुराते हुए उसने 'इत्ते छाले' वाले अपने दोनों हाथ फैला दिये। तभी राघव ने प्रवेशा।

—"माफ करिएगा देर हो गयी। अरे तुम क्यों रो रही हो ? क्या बात हुई ?"

पापा के सीने में मुँह भरकर रोते हुए बोली :

—"गुब्बाला फूत गया।"

—"बस ?? तो क्या हुआ ? और आ जाएगा।"

तभी राघव का ध्यान बेबी-साइकिल तथा टाफियों पर गया, बोला :

—"यह सब क्या कार्तिक बाबू ?"

—"देखिए इस बारे में कोई बात नहीं होगी।"

कन्धे उचकाते हुए वह बोला :

—"अच्छी बात है साहब ! कोई बात नहीं होगी। लो निशा की टूटी साइकिल तो नयी बनकर लौट आयी। वाह, कितनी अच्छी है न ?"

और उसने घण्टी टुनटुना दी। पापाजी को घण्टी बजाते देख सहमी-सी वह भी बढ़ी और हौले-हौले शरमाते हुए हाथ बढ़ा उसने भी टुनटुना दी। कमरे की निस्तब्धता में जैसे कोई छोटी बुलबुल गा गयी हो। घण्टी की चमक में निशा प्रतिछायित थी। राघव ने निशा को अपने से सटा लिया। और उसके दोनों गालों पर अपने ठण्डे हाथ हँसते हुए रख दिये। तभी गौरा आयी। तम्बाकू रङ्ग में सज्जित होकर वह लौटी थी।

—"हटाओ उसके गालोंसे अपने ठण्डे हाथ। जाने क्या आदत है तुम्हारी कि बाहर से आओगे तो जरूर ठण्डे-ठण्डे हाथ उसे छुलाओगे।"

—"निशाके गाल हीटर हैं, क्यों निशा ?"

—"झूत बोलते हैं ?"

और निशा, राघव के हाथों को अपने गालों से अलग करने में लगी थी।

—"पापा जी ! अंकल कहते हैं कि फेंकने से खलगोछ मल जाता है।"

—"अंकल ठीक ही तो कहते हैं।"

अनायास निशा ने गोल मुँह बनाया और हँसते हुए हाथ से ढाँपते हुए बोली, जैसे झिड़क रही हो :

—"हो ओ ो ो, बत्तों छे बी कोई झूत बोलता है ? पली लानी नालाज हो जाती है।"

—"अच्छा यह बताओ कि तुमने अंकल को पोएम्स वगैरा सुनायीं कि नहीं ? अरे गौरा ! देखा तुमने, तुम्हारी लड़की कितनी भाग्यवान् है ? इतनी सारी चीजें कार्तिकबाबू...."

—"अच्छा रहने दो, कोसो नहीं लड़की को। खुद माँ-बाप की भी नजर लग जाती है बच्चोंको।"

—"तुम्हारा बस चले तो तुम किसी को भी अपनी लड़की न छूने दो। अच्छा अब चाय-वाय नहीं पिलानी है क्या ?"

गौरा उठ गयी। निशा, खिलौनेवाली आल्मारी के पास खड़ी थी, बोली :

—"पापाजी, अंकल को खिलौने दिखाएँ ?"

—"तुमसे कहा, पहले पोएम्स सुनाओ।"

निशा खिन्न हो गयी।

—"कौन छी ?"

—"वही हम्टी-डम्टी सेट आन ए वाल।"

—"वो नहीं।"

—"अच्छा तो वोऽऽबाबा ब्लेक शोप।"

—"नहीं, वो नहीं पापाजी।"

—"ठोक, वो ो ो सड़क बनी है लम्बी चौड़ी।"

—"जिस पल जाती मोतल दौलो—वो ?"

तब तक गौरा चाय लेकर आ गयी।

—"अरे, अभी यही तय नहीं हुआ कि कौन-सी सुनायी जाए।"

राघव कुछ चिढ़ा-सा लग रहा था, बोला :

—"देख लो, शैतानी कर रही है।"

निशा ने जैसे विरोध किया।

—"ममीजी ! हम अंकल को खिलौने दिखाएँगे।"

मैंने निशा का पक्ष लिया।

—"ठीक है, आप हमें खिलौने दिखाइए और फिर पोएम्स सुनाइएगा, है न ?"

—"नहीं पोएम्छ नहीं छुनाएँगे, हमें छलम आती है।"

गौरा एकदम हँस पड़ी, बोली :

—"अरे वाह् रे शरम !!"

हम लोग चाय पीते रहे और निशा अपना घण्टीवाला हाथी, झबरा कुत्ता, बतख आदि फेंक-फेंककर दिखा रही थी। चाभीवाली नर्स की भाँति वह भी बच्चे को दूध पिलाने की नकल साथ-साथ करती जा रही थी। ड्रमर के साथ वह भी मुँह फुलाकर, कमर हिलाती, ढोल पीटती गोल-गोल घूमने लगती। जब उसने बागवानी के औजार दिखाये और पूछने पर मैंने अनभिज्ञता दिखायी तो वह खूब हँसी कि अंकल इतने बड़े हो गये और इन्हें कुछ नहीं मालूम। मैंने कोने में बने पहाड़ की ओर संकेत कर पूछा :

—"वह क्या है ?"

—"उछ पहाल पल पली लानी का महल है।"

—"अच्छा ??"

—"हाँ ाँ ाँ वो मिथाई लाती हैं, पोएम्छ लाती हैं। खूब अच्छी-अच्छी चीजें लाती हैं।"

उपरोक्त बातें वह कभी आँखें बन्द कर; कभी जैसे दूर देखते हुए कह रही थी।

—"तो अंकल को पोएम्स नहीं सुनाना ?"

गौरा ने टोका उसे। निशा हँसते हुए मुझे देखने लगी और अस्वीकृति में सिर धीरे से शैतानी में हिलाती रही।

—"तो फिर जाओ। घूमने के लिए आया से कहो तैयार कर दे।"

पोस्ट आफिस की तरफ हम लोग निकल आये। बड़े अच्छे शेड्स हैं। बेंचें हैं। बड़ी घुमावदार सड़क है। एक अजीब सन्नाटेवाली शान्ति, देवदारों की छतनारी छाया और एकान्त पहाड़ी मार्ग। जो है, विपुल है।

हम लोगों के पहुँचने पर सामने के पहाड़ों, बँगलों पर अपराह्न की अन्तिम धूप प्रशस्त थी। देवदार की झरती पत्तियाँ तक अबोले नहीं झर रही थीं। निशा, अपनी उसी परिचित जूतों की नन्हीं खट्खट् करती मोड़ों, ढलानों,

चढाइयों पर चल रही थी। एक शेड की बेंच पर हम लोग बैठ गये। निशा के कनटोपे के फुन्दे हवा में झूल-झूल पड़ रहे थे। बीच में बैठी 'यह क्या है' पूछती हुई उसकी जिज्ञासा तलहटी, पहाड़, पेड़ सबके प्रति उत्सुक थी। इस बीच मैंने देखा कि उसे बहुत कम गोदी चढ़ना सुहाता है।

उसके बाद—

उसके बाद खाने की मेजपर अभी हम बैठे ही थे कि वह अपने गले का नेपकिन खोलती आयी और खाना खा चुकी थी इसलिए सोने जा रही थी। पापा, ममी तथा अंकल को प्यार देकर 'गुडनाइट' करती जूते बजाती चली गयी।

रास्ते भर उसके कनटोपे के उड़ते फुन्दे तथा लाल जूतों की बुलबुली आवाजें सुनता आया, जैसे वह मेरी अँगुली पकड़ कर अँधेरा चीरती चल रही है, तारों के ठण्डे मंद प्रकाश के नीचे, नील कुहासे में।

मौसम अनायास ही बहुत खराब हो गया था, दूसरे दिन। बादलों को जैसे छँटना ही नहीं था। सर्दियों में बरसात, दिन भर टिपटिप। उस पर तेज सर्द हवा। एकदम मन घबरा उठा। होटल में घिरे बैठे रहने से तो अच्छा था कि दिल्ली लौट जाया जाए और लौट पड़ा। बस चलने को हुई तो एक बार ध्यान भी आया कि क्यों नहीं निशा को देख आया, और तब तक बस गूँ गूँ करती गहराइयों और मोड़ों में सरकती जा रही थी।

अगले बरस अपनी कम्पनी के काम से दूर असम चला जाना पड़ा और वह भी दो महीनों के लिए। डलहौजी, निशा, गौरा, राघव सभी याद थे, लेकिन—बस। इसलिए जनवरी में जैसे ही छुट्टियाँ मिलीं कि यहाँ चला आया। इस बार मनपसन्द एक एक्वेरियम निशा को भिजवा सका। उत्तर में उसने कैसे बच्चों के से मुलायम प्यारे अक्षरों में धन्यवाद भेजा। निशा के ही धन्यवाद की तो अब जरूरत रह गयी है मुझे—मूर्ख; और लिखा कि पिछली सर्दियों में क्यों नहीं आये? कब आनेवाले हैं?

अपराह्न था। राघव घर कैसे हो सकता था? निशा भी स्कूल में होगी

तभी तो एकदम निर्जनी शान्ति थी। दरवाजा उढ़का पड़ा था। बच्चों के स्कूल से लौटने का भी तो यही समय होता है। निशा भी अब लौटने ही वाली होगी। तभी पल्ला खड़का और एक खरगोश ने सिर निकाला। बाहर की हवा में उसकी गर्दन के बाल हिले पड़ रहे थे। खरगोश के बाद निशा के 'तुए' भी स्वागत करने दरवाजे पर आ रहे होंगे। सहसा वह बात याद आ गयी गौरा की, कि निशा उससे कह रही थी कि अंकल जिस तरह 'निशाऽऽजी' पुकारते हैं वैसे ही वह भी पुकारेगी—*'अंकलऽऽजी !'* समझ नहीं पा रहा था कि किसे पुकारूँ ?

राघव, गौरा या

निशाऽऽजी ??

और तभी खुले बालों में काली शाल ओढ़े गुड़हली आँखों में, अत्यन्त टूटी-टूटी बीमार सी पीली गौरा बाहर निकली। पहचानने में एक क्षण लगा कि कहीं यह गौरा की कोई बीमार बड़ी बहिन तो नहीं ? वह भी चौंकी :

—"अरे आप ?"

—"हाँ मैं !! लेकिन, क्या आप बीमार हैं ?"

और गौरा की आँखों की सफेदी जैसे बढ़ गयी। सहसा बुढ़ा गयी लगती थी। मन शंकालु हो उठा। तो क्या........कुछ अघटित घटा है ? राघव तो ठीक है न ? निशा....वह कभी बीमार नहीं हो सकती है।

गौरा, पीठ किये 'आइए' का आदेश देती लिवा ले गयी। उसी मुद्रा में 'बैठिए' कह कर भीतर चली गयी।

क्या समझूँ इसे ?

निशा का ही कमरा था। यथावत् था। मैंटलपीस के ऊपर निशा का वही तैलचित्र टँगा था, जिसे एक 'पेन्टर अंकल' ने बनाया था, जो कि कभी इसी 'देवदार्स' में आकर रुका था। खिलौने, आल्मारी, अलगनी, शेल्फ पलँग, नीली मसहरी, 'पली लानी' का महल, सब, सभी कुछ तो

यथावत् था। कोने में एक खरगोश आँखें मीचे झपकियाँ ले रहा था। दो सफेद चूहे जरूर रेल की पटरियों पर शैतानी करते कूद—फाँद रहे थे।

एक्वेरियम खिड़की के पास रखा गया था, जिसमें मछलियाँ कितनी शान्त तैर रही थीं। साँझ की धूप में ये मछलियाँ कितनी रँगा उठती होंगी। हालाँकि इस समय तो मौसम बड़ा खराब हो रहा था। बादल, घिर कर नीचे उतरने लगे थे। जनवरी में प्रायः बादल नीचे आ जाते हैं और मनमाने टहलने लगते हैं तथा आपके घरों में घुस पड़ते हैं।

तभी गोरा वैसी ही निष्प्रभ बुझी-बुझी सी सामने आ खड़ी हुई, रुकी, और फिर बैठ गयी।

—"कब आये आप ?"

—"आज ही, बल्कि अभी ही।"

—"रुकिएगा ?"

जैसे जल की अज्ञात सतहों में से पूछा जा रहा हो।

—"सब ठीक तो है न गौरा जी ?"

क्या कहूँ कि उस गौरामुख पर क्या हुआ।

हवा तेज हो आयी थी। बादल एक दूसरे में गुँथते हुए, घुलते हुए नीचे उतर कर घाटियाँ भरने लगे थे। अब तो वे लम्बे फैलते एक-एक देवदार के ऊपर से होते बढ़ आये हैं। लाल पीली छतों से तैरते मकानों, बारजों, बालकनियों और खिड़कियों में भी घुसने लगे हैं। बस, जहाँ निशा का पलँग था उसी खिड़की के बन्द शीशों के पार टहलने लगे हैं। उन झाँकते बादलों की गीली भाप कैसे शीशों पर झलक आयी है।

—"राघव कहाँ हैं ?"

—"क्या आफिस का समय हो गया ??"

उसने चौंकते हुए उल्टे मुझी से प्रश्न किया। स्पष्ट था कि राघव आफिस गया है और समय से लौट ही आएगा। लेकिन, तब, यह गौरा क्यों ऐसी बुझी-बुझी सी, उदास बादल सी........

—"निशा तो अब स्कूल से लौटने वाली होगी।"

मैंने किससे यह प्रश्न किया ? गौरा से ? लेकिन वह थी कहाँ ?

—"गौरा जी ! क्या बात है ?"

मुझे लगा कि 'गौरा जी' सुनकर कमरे में टहलते, घिरते बादल तक एक क्षण को चौंके, लेकिन गौरा·······उसकी बड़ी-बड़ी आँखें और बड़ी हो गयीं। मुझे खटका हुआ। मेरी चेतना जैसे सारा हिमालय एक साथ छू आयी।

—"निशा कहाँ है गौरा ?"

मैं नहीं जानता कि यह मैंने पूछा या पुकारा।

खुले बालों में फटी आँखों की गौरा, कमरे में घिर आये इन बादलों में विभास रही थी। कमरे में टहलते बादल निशा के बिस्तर पर, खिलौनों की आल्मारी पर, तैलचित्र पर, एक्वेरियम की मछलियों के चारों ओर स्वेच्छाचारी थे।

तो क्या—

तो क्या निशा अब—

कमरे के ये जनवरी के टहलते बादल, गीले बादल, मेरी स्नायुओं में चेतना में भी सायास घिर रहे हैं या अनायास ही यह सब घट चुका है ?

निशा के वे लाल-लाल जूते, हवा में हिलते कनटोपे का फुन्दा, पहाड़ी सुनसान मोड़ों पर मुलायम सी वह बुलबुली पदाहट—

खट् खट्,

खट् खट् खट्.......

निशाका खरगोश जो ऊँघ रहा था, टहलते बादलों के नीचे नीचे फुदकता गौरा के पैरों के पास बादलों भीगा काँपता बैठ गया।

मेरे सामने बैठो उदास बादल सी इस गौरा को क्या कहूँ ?

स्वयं मेरे पास कहने को क्या है ? केवल लौट जाने के मार्ग पर एक यात्रा है, जबकि यहाँ एक ऐसा दुःख है, जो दुःख है, बादलों डूबा, गौरा भीगा—एक दुःख !!

दुर्गा

दुर्गा

अपने शैशव से ही अनाथबाबू को कस्बे तथा आसपास के क्षेत्र में ठेकेदारी करते देखा था। ये बंगाली बाबू मालवे के पठारों को चीर कर इस 'प्रवास' पर कैसे आये, इसे और कोई जानता हो, मैं नहीं जानता। जो जानता हूँ वह यही कि वे आजन्म अपने को एक प्रवासी ही स्वीकारते रहे और 'प्रवासी' पत्रिका भी पढ़ते रहे। अनाथबाबू सारे मुहल्ले के लिए कौतूहल थे। बन्द गले का हाफकोट, ढीली धोती, बीच से निकली हुई माँग, कन्धे पर उपवस्त्र एवम् पैरोंमें विद्यासागरी, जिसे हम 'पुराणिका' कहते हैं। बारोंमास छाता लिये जब किसी गाहक के साथ ऊँचे बोलते हुए वे निकलते :

—"शाला, ईतना कोम दाम में शोदा करने से हम कीया खाएगा ?"

तब हम 'नोमोश्कार' करना नहीं भूलते। वे किसी को टिल्लू, किसी को भुल्लू और मुझे नीटू कहते थे।

वैष्णव प्रधान मालव, स्वभाव से ही शाकाहारी प्रदेश है। किन्तु हमारे अनाथबाबू की चटर्जी-बाड़ी में दोनों जून माछ राँधी जाती और वह भी सरसों के तेल में। यहाँ का जन तो इसका प्रयोग या तो चमरौधों में या अचार में ही करता है। कुल मिलाकर गुजराती वैष्णवों के लिए तो वे साक्षात् औरंगजेब के अवतार ही थे। दैवमारे बेचारे—'श्री अनाथनाथ चट्टोपाध्याय, ठेकेदार—प्री० मैट्रिक; कलकत्ता' जब भी इस कस्बे आये होंगे और उपरोक्त नामपट्टिका लगाये होंगे तब मुहल्लेवालों ने कुछ वर्षों अवश्य ही नींद हराम कर दी होगी। सुपुत्र श्री नीरोद बरन जो कि आंग्ल प्रभावके कारण 'चटर्जी' कहलाना पसन्द करते हैं, इसी मालवभू की सन्तान हैं, भले ही वे भी अपने को प्रवासी स्वीकारें। अनाथबाबू की दुर्गा तो मालवी श्रावणी

सन्ध्या में ही उत्पन्नी थी। जब कभी मेघराजा बरसते होते, झड़ी लगी होती तो अनाथबाबू चीख उठते :

—"शाला ईहाँ भी एकदोम हामरा बेंगालका माफिक वृष्टि होता।"

जिसके उत्तर में 'नान बेंगाली हिन्दूस्तानी' उनके मित्र, जिनमें मेरे पिता प्रमुख थे उनके ही लहजेमें कह उठते :

—"अनाथ बाबू ! शाला तोमरा बेंगालका लोग भी ईहाँके माफक ही सूरत शकलका होता।"

और इस प्रकार श्री अनाथनाथ चट्टोपाध्याय, श्रीमती सुप्रिया चट्टोपाध्याय एवम् दो सन्ततियाँ उस कस्बे निवासती थीं।

अनाथबाबू की पत्नी, जिन्हें हम 'काकीमाँ' डाकते थे, को शुरू में मुहल्ले के महिला समाज ने सम्मान तो दूर, उपेक्षित ही रखा। असूर्यपश्या मालवी घूँघटवाली स्त्रियों के बीच पीठ पर फैले बाल लिये घण्टों सँवरनेवाली इस बंगालिन सुप्रिया चट्टोपाध्याय को मालवी महिला समाज भला कैसे सहनता ? हमारी चाची, जो कि ब्रह्मा की सृष्टि में भी दोष निकालनेवाली रही हैं, सुप्रिया को कैसे निर्दोष स्वीकारतीं ? सहनतीं ? जहाँ चार जनीं मिलीं कि यही चर्चा :

—"अरी ये तो रामजनियोंके लच्छन हैं, रामजनियोंके। देखा; चूड़ीके बाजे सँगे गावे और कैसी मटक-मटकके नाचे भी। भला औरत जात ऐसी कहीं देखी है तैंने ? कुल चार ताले ही दीखे हैं घरमें, तभी न पल्लू में बाँध के गाम भर को दिखाती फिरे है। साँझ पड़ी और रंग के कैसी मटर-मटर हवाखोरी को जावे है। अरी आतू माँ ! इसी को तो घोर कलजुग कहें हैं।"

किन्तु जब नवरात्रि आती और जिस भाव एवम् तन्मयता से दुर्गा-पूजा सम्पन्नती उसने हमारी चाची को भी परास्त कर दिया कि नहीं, सुप्रिया भी उतनी ही पतिव्रता तथा धार्मिक है जितनी कि वे लोग स्वयं हैं। और उसके बादसे वे काकीमाँ की 'बोउदी' हो गयीं। अब यही चाची पूछने पर कहतीं :

—"अरे ये तो देस-देसका चलन है। बंगालमें गेहूँ नहीं होता, इसीलिए वहाँके बिचारे ब्राह्मणों तक को पेट के लिए मच्छियाँ खानी पड़ती हैं। इससे क्या ? देखते नहीं ब्रह्म-सम्बन्धकी कण्ठी दोनों जनों के गले में है ?"

पहले की भाँति सुप्रिया देवी अब काशी को न तो रामजनी ही रहीं और न किसी की विधवा ही, जिसे अनाथबाबू भगा कर लाये, वरन वे उनकी ब्याहता हैं; जिन्हें 'बंगालेका जादू' आता है। इसीलिए चाची सदा ही चाचाजी पर एक आँखसे चौकसी करने में नहीं चूकती हैं। माना कि सुप्रियाका मन तो साफ है पर मरद का किसने जाना ? जहाँ ढलान देखी और बस। और इस प्रकार काकोमाँ ने उस मालवी समाज में प्रवेश पाया। दुर्गा हमारे परिवार में कन्या-कुआँसी स्वीकार ली गयी। अब काकोमाँ के हारमोनियम पर दूसरी चाचियाँ-भाभियाँ भी बीनना-चूटना निबटाकर ब्रह्मानन्द या मीरा के भजन गाने पहुँचतीं। चूड़ी के बाजे पर बंगाली नाटक के साथ बिल्वमङ्गल या अभिमन्यु-वध का डिरामा भी नियम से सुना जाता।

नित्य रात हमारे कचेरीवाले हाल में पुरुष एकत्र होते तथा आँगन में बिल्वपत्र के गाछ तले स्त्रियाँ। और हमलोग बाहर सेरी में चाँदनी-आँधार की झलफलियामें 'पकड़ापाटी' खेलते होते। नवरात्रि में बहिनों के साथ जब दुर्गा, मिट्टी के कलश में छिद्र करके दीपों का खेल खेलती होती, तब सबसे पहले उसी का दीप-कलश तोड़ने में मुझे मजा आता था। बहिनें झुँझला जातीं किन्तु वह अवश ही जाती। दुर्गा मुझसे दो एक बरस छोटी होगी। जैसे प्रत्येक बंगाली भागकर अगत्या कलकत्ता पहुँच जाता है, वैसे ही हमारे नीरद बाबू भी एक दिन सहसा भागकर कलकत्ते चले गये, किन्तु दुर्गा हमारे बीच ही रही, खेली और बड़ी भी हुई। दुर्गा को शायद ही किसी ने सुन्दर कहा हो किन्तु उसमें वह था जो अन्य किसी भी मालवी केसरमुख में नहीं था। सँवराया रंग, दीर्घ केशराशि एवम् अण्डाकार मुख, सीपियों से दो खिंचे नयन। आज भी नहीं भूल पाता हूँ कि जब कभी

खेल-खेल में उसकी आँखें ढाँपीं तब अपनी हथेलियों में उसकी पेण्डुलम सी हिलती पुतलियों से मेरी पूरी हथेलियाँ भरी होतीं।

श्राद्धपक्ष में फूलों से दीवारों पर अल्पना एवम् छवियाँ आँकने की प्रथा को मालवे में "संझा" कहते हैं। बहिनों के आँके गये नगरकोट, महल, चोबदार और रथों की अपेक्षा जब मैं दुर्गा को संझा की प्रशंसा करता तो दोनों ओर राग हो आता। बहिनोंको बंगाली 'राग' हो आता और दुर्गा को हिन्दी। खेलते जब देर हो जाती तो उसके नाम की डाक पड़ती और वह शंख-सी आँखों में 'ताड़ाताड़ी' लौटने का आश्वासन एवं समाधान करते हुए भाग जाती। काकीमाँ की तब डाँट सुनायी देती :

—"की शारा दीन खेला करचोशके ? लेखा-पाड़ा किछू होबे ना ?"

उत्तर कौन देता ? दुर्गा ? किन्तु वह उत्तर कैसे देती ? वह तो गूँगी थी। मुझे याद है, जब मैं बहुत छोटा था। माँ से मैंने शिकायत करते हुए कहा था :

—"माँ ! दुर्गा किसी से बात नहीं करती।"

काकीमाँ भी माँ के काम में हाथ बँटाने आयी हुई सूप में धान फटकार रही थीं। एक क्षण को मेरी ओर देखा और गहरी साँस भरते हुए बोलीं :

—"नीटू ! दुर्गा केमोन बोलबीश ? ओके भगवान बाचओ दिए ना।"

और वे सहसा डबडबायी आँखें लिये उठ खड़ी हुई। माँ ने मुझे आँखों ही आँखों घुड़क दिया। उस दिन अपने ओटले (चबूतरे) बैठा रान्नीघर में (रसोईघर) काम करती दुर्गा की झुकी पीठ, जिस पर फैले गीले बाल और सिन्दूरी रंग की साड़ी खिड़की से देखता रहा।

दुर्गा गूँगी थी, किन्तु बोलने को छोड़ वह समझती सब थी। गृहकाज में निष्णात थी। वह पढ़ती थी। बंगला का उसका लेख, सुलेख था। उसकी शंखीय आँखों में मूक भाषा इतनी सजीव थी कि जब मैं बारह वर्ष का हो गया तब जब कभी उसके दीपकलश को फोड़ने के लिए आगे बढ़ता, उसकी आँखें निषेधतीं। तब क्या मजाल थी कि मैं उसके कलश को

फोड़ देता। मेरी विवशता पर उसके शंख मुसकुरा देते और फिर मेरा हाथ पकड़ स्वयम् ही उन्हें फोड़ देती। बचपन में मुहल्ले के बच्चे जब छोटी सी दुर्गा को चिढ़ाते—

दुर्गा गूंगी
साँवली मूँगी
शादी होगी
कोटा बूँदी

और वह अवश रोते हुए अपने केशों में अपना अपशकुन ढँके भाग जाती। तब मैं उपरोक्त पक्तियों के व्यंग्य को न समझ, दुर्गा को वापस लाने के लिए उसके पीछे हो लेता था। रान्नीघर में काज करती काकीमाँ के पास खड़ो दुर्गा को चलने के लिए बाध्य करता, किन्तु वे मुझे वरज देतीं; —"नीटू! जा रे भाई, आपनी खेला करा, एई हतभागीके प्रारब्धे...."

दुर्गा के हतभाग्य से मुझे शैशव से ही परिचित होना पड़ा। एक बार अम्बा की जात्रा (मेला) थी। दुर्गा भी संग थी। गाड़ियों से उतरने के बाद दुर्गा सहसा खो गयी। खलबली मच गयी। काकीमाँ बारम्बार यही कहती दिन भर प्रतीक्षा करती रहीं:

—"ओ रे हतभागी, भालोई हये छे, पालिये गिये छे?"

साँझ हमारे बड़े भाई दुर्गा संगे लौटे। तब उसकी आँखों में न दोष था, न दुःख ही। केवल अपने व्यक्तित्व का आहत रंग, लोहित—सिन्दूरी रँगा हुआ था। दुर्गा मुझे चोरी-चोरी बचपन में सन्देश खिलाती थी। उसका विचार रहा होगा कि हम बंगाली घर को कोई रकम नहीं खाते। मैं भी प्रारम्भ में दुर्गाबाड़ो की सारो चीजों में मछली समझता था। और जब प्रथम बार सन्देश खाया और वह गले में फँसा-फँसा सा लगा तो मैंने दुर्गा को फटकारा था कि उसने मुझे चोरी से मच्छी खिलायी। माँ और काकीमाँ तबसे मुझे चिढ़ातीं कि 'नीटू ने मछली खा ली और वह अब गुजराती नहीं, बंगाली हो गया। नीटू की शादी भी किसी

बंगालिन से होगी, जो कि सरसों के तेल में उसे मच्छी राँध-राँध कर खिलाएगी।' मैं चिढ़कर रो देता और फिर खीझ जाता था, कारण कि पास ही खड़ी दुर्गा हँसती होती थी।

तुलसी चबारे पर दीप जला, जब वह प्रणाम करती होती, तब मैं उसे पूछता :

—"दुर्गा ! तुलसी माता से क्या वरदान माँग रही हो ?"

वह मुझे घसीटते हुए अपनी खिड़की के पास ले जाती, जहाँ उसने एक स्लेट रख छोड़ी थी और जिस पर लिख कर वह सारे प्रश्नों के उत्तर देती थी।

—"नीटू ! आमी हतभागिनी, आमी की माँगिबो ?"

हतभागा के संस्कारमें पली दुर्गा नित सवेरे खिड़की में होती, जिस बेला मुहल्ले की लड़कियों के लिए स्कूल की नौकरानी घर-घर पुकारती होती :

—"शाला चलो बाई—ई—ई———"

सब लड़कियाँ स्कूल जाते हुए दुर्गा को बुलातीं, हँसती जातीं और वहीं से अवश बनी दुर्गा सूनी सेरी के खालीपन को, दूर खिलखिलाते पीपल गाछ को, कवेलुओं (खपरैल) पर अलसाती चिड़ियों को बड़ी देर तक देखा करती।

दुर्गा को नृत्य अच्छा आता था। पूजा-पर्व में जब वह नृत्य करती थी, तब उसे देख कोई नहीं कह सकता था कि दुर्गा गूँगी है, किन्तु निःसन्देह दुर्गा गूँगी थी।

वह राधा बनी नृत्य कर रही थी और अनाथ बाबू मृदंग पर गा रहे थे।

शामरी तोरा लागी
अनुखन बिकल मुरारि

तभी हाथ की मंजीर फेंक काकीमाँ····

—"दुगा ओ !!"

चिल्लाती हुई भागीं। दुर्गा अचेत हो गयी थी। तब दुर्गा चौदह की रही होगी। मुझे आगे पढ़ने उज्जैन चला जाना पड़ा।

मैं तब इन्टर में था। एक दिन अपने कालेज के फाटक पर श्री अनाथ-नाथ चट्टोपाध्याय, काकीमाँ, नीरद बाबू और दुर्गा को खड़े पाया। उस दिन मुझे लगा कि दुर्गा 'खोकी' से 'लक्खी' हो गयी। यह सब कैसे हो जाता है, इसका गणित उस हो जाने वाले के पास भी नहीं होता, बस वह हो जाता है। हम सहज से सहजतर होने के लिए बड़े नहीं होते वरन गूढ़ या गोपन के लिए बड़े होते हैं। हम सरल उस दिन हो जाते हैं जिस दिन हमारा गोप्य चुक-चुका होता है। संकोच का होना, बड़ा होना है। संकोच, संबंधों का नहीं होता वरन वयस का होता है। वयस प्राप्त व्यक्ति, निःसंकोची हो सके इसका दायित्व भूतपूर्व भोक्ता माता-पिता अनायास अपने हाथों में ले लेते हैं। यह संकोच, चरित्र को शील प्रदान करता है एवं अंगों को यौवन। तो, दुर्गा में उस दिन प्रथम बार मैंने संकोच पाया। उसके शंख, अरुण लग रहे थे। साड़ी से वह शिखरों को प्रयासती ढँकती रही। दुर्गा वही थी परन्तु जबसे मैं उज्जैन आया था तब से वह अपनी देह में अनेक नये उपादान धार चुकी थी। वह उस दिन फाटक पर सहसा दीखी और मैंने प्रथम बार उसे 'नमस्कार' कर जतला दिया कि उसे आज के बाद गंभीर रूप में ही स्वीकारना होगा।

अनाथ बाबू कालेज के पास ही एक होटल खोलना चाहते हैं। जब वे निश्चय ही कर चुके थे तब भला मैं क्या कहता? मुझे तो जो भार दिया था वह यही कि यूनियन के सेक्रेटरी के नाते कालेज-उत्सवों, पर्टियों का आर्डर उन्हें दिलवा दूँ। और एक दिन विधिवत् श्री अनाथनाथ चट्टोपाध्याय का "तृप्ति मन्दिर" उद्घटित हुआ। अनाथ बाबू को ठेकेदारी में भारी हानि हुई और चूँकि नीरद बाबू भी अब उज्जैन आ गये थे इसलिए अनाथबाबू ने अगत्या उज्जैन आना ही श्रेयस् समझा। नीरद बाबू ने एक 'चटर्जी हाई स्कूल' खोल रखा था, जहाँ समस्त भारत के अनेकानेक बार निराश हुए मैट्रिक

फैल विद्यार्थियों को ठेके पर शिक्षा देते थे तथा उन्हें पंजाब मैट्रिक परीक्षा के लिए लाहौर ले जाकर मुक्ति दिलवाने का पुण्यकार्य करते थे।

एक दिन काकीमाँ दुर्गा के साथ मेरे बासे पर आयीं और हुकुम सुनाया कि मुझे तुरन्त यहाँ से चल देना होगा तथा उनके साथ ही रहना होगा।

—"नीटू ! बोदी जदी शोनेगाके शुप्रिया के रहते खोका को कोष्ट हुआ तो बोल किया कहेगा ? ना बाबा ततखनात चलना होगा।"

और जिस प्रकार काँजी हाउस से गायवाला गाय छुड़ाकर ले जाता है उसी प्रकार तीन तल्ले के 'तृप्ति मन्दिर' में मुझे लेकर पहुँचीं। नीचे के तल्ले में होटल था, दूसर तल्ले में अनाथ बाबू निवासते थे तथा तीसरे तल्ले के कमरे में मेरा सामान लगा दिया गया।

अनेक बार मैं देर से लौटता तो दबे पैरो सीढ़ियाँ चढ़ जाता ताकि किसी को पता न चले। किन्तु अभी मैं फीते खोलता ही होता कि दुर्गा एक हाथ में जल की कलशी एवम् दूसरे में थाली लिये खड़ी होती।

—"एक मित्र के यहाँ से खाकर आया हूँ।—सच मानो मैंने खा लिया है दुर्गा !"

उसके शंख अविश्वास से रँगे होते कि 'जो तुमने खाया है वह मुझे ज्ञात है। अब उठो, देखते नहीं। अभी तो मुझे भी खाना है। फिर सबेरे के लिए अँगीठियों में कोयला भरना है। होटल में कोई एक दो काम होते हैं ? मुझ हतभागी को अभी जाने कितना सहेजना समेटना है। उठो भी।'

सबेरे मैं जागा भी नहीं होता हूँ कि चाय लगी होती। नीचे से न डाके जाने पर भी 'आश्चे' के बदले 'हूँ' इतने जोरों से दुर्गा कहती और जाती होती कि मैं जाग जाता। काकीमाँ नीचे से पूछती होतीं :

—"चा खाल्लाम ? आर चाई ? दुग्गा ! आर चा निये जा।"

जब मेरी चाय के बर्तन वह समेटती होती तब उसके खिंचे मुख पर आदेश उभर आता कि—'काल के दूसर कप आनबो, बुझ ते पारी ?'

किन्तु न तो मैं ही खिंचे मुख का वह गूँगा आदेश बूझ सका और न दुर्गा ही कभी दूसरा कप लाना भूली। रोज कुरते के बटन टाँक दाँत से जब वह डोरा तोड़ती होती तब उसकी गूँगी खीझ मुझ जैसा अन्धा भी समझ जाता कि रोज रोज बटन कैसे टूट जाते हैं ? किन्तु लगता कि उसने जिस प्रकार अपने गूँगेपन से अवश समझौता किया था उसी प्रकार नीटू के अन्धे-पन को भी सहते रहने के लिए ही तो जन्मी थी नहीं तो बंगाली होकर वह मालवे क्यों आती ?

एक दिन भोजन करते मैंने दुर्गा से कहा कि मैं भी माछ खाऊँगा। वह आसन्न रह गयी। शंख गीले हो आये। तीन दिन वह ऊपर नहीं आयी। सीढ़ियाँ उतरते वह दिख जाने पर इतना बड़ा 'घोमटा' निकाल लेती जैसे किसी अफगानी को देख लिया हो। काकीमाँ से मैंने प्रतिवाद किया। वे हँसते हुए बोलीं :

—'हतभागी बोलछे जे तोमरा संगे कखनो कथा बोलबो ना....'

उस उपासी, अबोली दुर्गा को जब शपथ देकर आश्वासित किया तब जाकर कहीं वह अनुपासी हुई।

सबेरे से देरे रात तक वह होटल में बझी रहती। 'तृप्ति मन्दिर' कोई ऐसा तो चलता नहीं था कि दस नौकर रखे जा सकते थे! काकीमाँ ऊपर का देखतीं तथा दुर्गा पर बनाने-सहेजने का सारा भार था। सबेरे की जली भट्टियाँ तीसरे पहर बुझी-बुझी होतीं कि ग्राहकों का ताँता लग जाता। रसगुल्ले के तैयार छेने के गुल्ले बनाये जाते, मैदा माँड़ा जाता, चाश्नी के तार देखे जाते। मैंने उसे कभी विश्राम करते नहीं देखा। चूड़ियाँ चढ़ाये कढ़ाई माँजती दुर्गा से लेकर स्वामी रामकृष्ण परमहंस की छवि के सम्मुख दीप बालती दुर्गा में एक लय, एक भाव, एक गति ही देखी—करुणा, अनन्त धृति, अव्यक्त गाथा !! वेदना से मँजे हुए ताम्र के पूजा-कलश सी दुर्गा, घर का अबोला दीप थी, जिसे समझने की किसी को आवश्यकता ही नहीं लगी। वह

सबको समझे, यही आवश्यक स्वीकारा गया था। दुर्गा, मिटकर आदेश हो चुकी थी।

उस दिन क्या था यह तो पता नहीं, शायद कोई पूजा थी। जैसे ही वह मेरे कमरे में आयी मैं अँधेरे में बैठा था। उसने बिजली जलायी और आँखों के प्रश्न लिये उसने मेरा माथा छुआ। आश्वस्त हुई कि मुझे कुछ नहीं हुआ है, वह लौटने लगी। मैंने कहा :

—"आज पूजा थी न ?"

दुर्गा ने स्वीकारा।

—"मैं भी आज पूजा करूँगा।"

दुर्गा ने हँस दिया।

—"सच मानो मैं भी पूजूँगा"

दुर्गा की आँखों ने प्रश्न किया कि—'किसकी' ?

और मैंने उसकी हथेलियों में अधमुँदी कुमुदिनियाँ रख दीं।

—"मेरी पूजा हो गयी दुर्गा !"

वह अवश, अवाक्, अमूर्त क्षण भर तो खड़ी रही किन्तु तत्क्षण वह दरवाजे को पकड़ अचेत न होने की चेष्टा करती रही।

—"दुग्गा ! ए की दुग्गा ?"

मैंने उसे बाजुओं से पकड़कर हिलाया। उसकी आँखों से शिप्रा बह रही थी। जूड़ा खुल कर घिर आया था। तभी काकीमाँ ने डाका। वह सचेत, अदेखे लौट गयी।

मैं सो रहा था कि नीचे के तल्ले में अनाथ बाबू और काकीमाँ का हो-हल्ला सुनायी दिया।

—"दुग्गा कोथाई।"

—माँ ! गो!!——

मैं गया। देखा और अवाक् रह गया। क्या दुर्गा ऐसा भी कर सकती है ? कैसा ? क्या किसी बात को करने के लिए कुछ विशेष होना

आवश्यक है ? लेकिन इसका क्या प्रमाण कि दुर्गा ने ऐसा किया ? प्रमाण न होने पर भी दुर्गा ने कुछ ऐसा ही किया। स्पष्ट होता जा रहा था। दौड़-धूप होने लगी। भिनसार हो आया था। काकीमाँ के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। सवेरे के ग्राहक अभी आने को थे। सड़कें सुनसान नहीं थीं। मेहतर उन्हें साफ करने में लगे थे। बूढ़ी दक्षिणी महिलाएँ पंचपात्र लिये बगलमें धोती दबाये शिप्रासे लौट रही थीं। दुर्गा, गूँगी दुर्गा क्या सच ही भाग गयी ? तब क्या होगा ? और तभी वह गीले वस्त्र में चुचुआते बालों में लौटती दीखी। जैसे ही वह द्वार पर पहुँची, उसे झकझोरते अनाथ बाबू चीखे :

—"कोथाय होलो तुमि ?"

तभी काकीमाँ ने उसका झोंटा पकड़ धकेलते हुए कहा :

—"हतभागिनी !"

वह अवश, अवाक्, जड़ बनी एक-एक बार सबकी ओर देखती असंपृक्त हो सीढ़ियाँ चढ़ गयी। सब अपनी ही दृष्टिमें लज्जित खड़े थे।

दुर्गा क्यों भागती ? उसे बाहर क्या पाना था जो यहाँ का छोड़ कर भागती ? यहाँ कम से कम बोलनेवाले अन्धे तो थे। बाहर तो अन्धे ही नहीं, गूँगे भी, जिन्होंने कि उसका सिद्धान्त, मर्यादा, संस्कृति तक बना रखी हैं।

दुर्गा नहीं भागी, कोई बोलनेवाला उसे भगा ही कैसे सकता है ? दुर्गा, प्राचीन काल की अज्ञात लिपि का भाग्यलेख थी और हम, दो आने के अखबार की एक शीर्षपंक्ति !!

वह मर्द थी

वह मर्द थी

जिन दिनों मैं उसके यहाँ पहुँचा, वह अपने होटल को करीनेदार बनाने में लगा हुआ था। आलमारियाँ बनायो जा रही थीं। लोहे की पतली जालियाँ उन आलमारियों के लिए काटी जा रही थीं। कुर्सियों की हिलती हुई टाँगों में जोड़ लगाकर हिलने से रोका जा रहा था और सबसे जरूरी बात थी कि पुताई भी हो रही थी। और जिस समय मैं उसके यहाँ पहुँचा, वह बाहर जाड़े की धूप में बैठा नाई से बाल बनवा रहा था, या कहा जाए कि वह बनवा चुका था और इस समय गरम जर्सी के साथ कमीज और बनियान ऊँची किये बगलें बनवा रहा था। उसका तोंदल गोरा शरीर धूप में भूरा-भूरा चमचमा रहा था। नाभी के पास बालों की एक काली नागिन पेट पर चढ़ती हुई उसके सीने पर दोमुखी हो छितरा गयी थी।

शुरू दिन ही मेरा उससे झगड़ा हो गया था....नींबू को लेकर। पाँच आने में वह दाल, एक सब्जी और 'रोट्टियाँ' दे सकता है, मगर वह नींबू खाने का कायल नहीं....शिकंजवी की बात और है। फिर कभी कभाक की बात हो तो, रोज नींबू देने बैठे तो एक आने का तो नींबू ही हो गया, उसे क्या बचा? मैंने हुज्जत की, वह कन्नी काट गया। तब संधि इस बात पर हुई कि नींबू मँगवाऊँगा मैं और प्याज, हरी मिर्चें देगा वह। इस तरह हम दोनों अपनी विभाजित जीतों को लेकर एक दूसरे के करीब आये।

वह और उसके नौकर कोई भी सलाम करने की जरूरत किसी से अनुभव नहीं करते, पर दो चार दिन बाद से मुझे 'नमस्तेजी' मिलने लगा और मेरी मध्यमवर्गीय इज्जत तथा अहं को इससे अच्छा ही लगा। मुमकिन था कि इसी तरह बिना बोले-चाले मैं उसके यहाँ खाता चला जाता। ज्यादा दिनों की बात भी नहीं थी, घर के लोग बाहर गये थे...लेकिन उस दिन एक घटना घटी। घटना थी....

उस दिन मैं रोज के देखते जल्दी आगया था, और अकेला बैठा खाना खा रहा था। मेरी रोटी खत्म हो गयी थी और रोटीकी आशा मे चुप बैठा था। तभी वह होटलवाला (बारबार होटलवाला कहूँगा तो आप बुरा मान जाएँगे, इसलिए मान लीजिए उसका नाम है—शादीलाल) बाहरसे गोश्त लेकर लौटा।

—"नमस्तेजी"।

—"कहो शादीलाल ! कैसा चल रहा है" ?

—"त्वाड़ी मेरबानी है जी"।

उसने अपनी बत्तीसी दिखा दी। वह फिर बोला :

—"क्या चाइये बाबूजी...रोट्टी ?...ओ ए ऽऽबाबूलाल्"

न तो 'बाबूलाल्' ओर न किसी दूसरे नौकर ने ही शादीलाल को जवाब दिया। ग्राहकोंको न देखकर और 'मालिक' को बाजार गया समझ शायद वे पीछे पत्ते खेल रहे हों। जो भी हो शादीलाल झुँझलाया बहुत और पार्टीशन में लगी खिड़कीके पार झाँकते हुए बोला :

—"तू ही क्यों नहीं दे देती ?........"

पार्टीशन के पीछे से किसी ने अपनी ठेठ पंजाबी में झल्लाते हुए बता दिया कि क्या उसे रोटियाँ भी बनानी होंगी और खिलाना भी ?

मैं सकते में आ गया, क्योंकि कभी न आते, न जाते...कभी तो किसी औरत की शकल इस होटल में मैंने नहीं देखी, फिर आज ये शादीलाल किसे पकड़ लाया ? इतनी देर से मैं बैठा हुआ खाना खा रहा हूँ, पार्टीशन के इस दरवाजे में कभी तो इस बनानेवाली की चूड़ियों की आवाज सुनायी देती। रंगीन (मैला ही सही) सालूका पल्लू तक नजर नहीं आया। मगर अभी-अभी रोटियाँ तो वह मरियल सा रसोइया बना रहा था, जो रोज बनाता है। जिसे किसी भी चीज की तमीज नहीं।...जिरा सागर रोटियाँ लेकर वह जवाब देनेवाली आयी तो मुझे खासी हैरत हुई। क्योंकि यह तो वही

रसोइया था...तो क्या यह औरत है ? मर्द नहीं ?......तो क्या यह औ...र....त है ??

मुझे एकदम घिन आ गयी उन रोटियोंपर, और उसपर वितृष्णा....जिसे मैंने औरत नहीं समझा था।

जिसे मैंने औरत नहीं समझा था वह रोज सने आटे की पीतलवाली परात के सामने खड़े होकर आटे के उस गोले पहाड़ में से, जिस पर एक गन्दा सा कपड़ा मक्खियों से बचने के लिए होता, थोड़ा-सा तोड़ लोइयाँ बनाती गोल-गोल। मैं जहाँ बैठता हूँ वहाँ से और पार्टीशन के दरवाजे से बस इतना ही दिखता है—लेकिन सोच सकता हूँ कि सामने की उसी ऊँची टेबल पर लकड़ी का एक पट्टा होगा या गोल चकला, जिस पर नाटी होने के कारण पंजों पर खड़े होकर इन लोइयों की रोटियाँ बनायी जाती होंगी····फिर सीने के बराबर ऊँचे चूल्हे पर रखे बड़े से तवे पर सेंक कर लहकते अँगारे भरे दूसरे चूल्हे पर उन्हे सेंका जाता होगा····और जिन 'रोट्टियों' को वो "बाबूलाल्" तथा दूसरे लड़के बिना राख झाड़े ही "इस साबको" "उन बाबूजी को" या "ओ सेट्ठजी" के सामने ढेर में गँजा देते हैं।

जिसे मैंने औरत नहीं समझा था वह····नाटे कद की, बच्चों के बराबर मुँह, गेहुँआ मुरझाया रंग, झुर्रियों भरा चेहरा, पतले हाथ और हड्डी भरी हथेलियाँ। उन हथेलियों की लकीरों में बर्तन साफ करते वक्त गिच-गिची कलासी चीठी राख या रोटियाँ बेलते समय गीली लोई का आटा भर जाता है और जिसे वह पीतल की परात के ऊँचे किनारे से रगड़ कर निकालती है। फुर्सत के समय उन लकीरों में भाग्य या लक्ष्मी ऐसे ही चिपकती है या नहीं····नहीं मालूम। पैरों में लकड़ी की चट्टियाँ। बहुत ही कम घेर की गन्दी सफेद सलवार····जिसपर चीठी राख धूल, हल्दी की पोंछी हुई अँगुलियों के लम्बे निशान, दाल तरकारियों के रंग-बिरंगे धब्बे। नाड़े का झूमरदार फुँदा लटकता हुआ। एक छींट की चुस्त, देह से सटी कुर्ती जो दूर से (दूर से ही क्या, पास से भी) देखने पर मैले कुर्ते सी, जिसपर

छींट के नन्हें-नन्हें फूल भी हैं, यह मुझे तभी मालूम हुआ जब मैंने उसे औरत समझा। छातियाँ मर्दों की सी। सिर पर एक बड़ी-सी चादरनुमा कोई चीज फूली-फूली बँधी हुई। गले में आँट देकर जिसके दोनों पल्लू पीठ पर लम्बे गिरे हुए। उसके चलने पर वे पल्लू हिलते। उन्हीं पल्लुओं से वह मुँह की राख झाड़ लेती, पसीना पोंछ लेती, शायद गर्मियों में पंखा भी उसी से कर लिया जाता हो, नाक साफ कर ली जाती, चूल्हा धम (धौंक) लिया जाता····याने वे पल्लू दुनिया के हर मर्ज की दवा थे। हल्की बारीक भीगी मसें। पथराया ठण्डे गोश्त-सा चेहरा। मिट्टी में टोप दी गयीं की तरह वे पीली जर्द आँखें।

और खाना मुझसे खाया नहीं गया।

छिः छिः, कितनी गन्दी औरत है यह जो रोटियाँ बेल रही है···· अगर औरत है तो। और मुझे शादीलाल आदमी अच्छा नहीं लगा। अपने होटल में एक तो औरत रखता है और फिर इतनी गन्दी····अरे, ये होते ही ऐसे हैं। शायद ये औरत भी इस होटल की एक तरकारी हो।

दूसरे होटल का मन में निश्चय करके मैं उस दिन एक रोटी कम खाकर उठ गया। इतना गन्दा खाकर तो उल्टा बीमार पड़ जाऊँगा। यह कम्बख्त शादीलाल····दूसरों से ज्यादा नहीं, तो बुरा भी नहीं कमाता। पर क्या मजाल कि इस बात की कोशिश भी करे कि गाहक नये आएँ। गरजमन्द की बात न्यारी है····आएगा नहीं तो जाएगा कहाँ? पर कुछ अपना भी किया धरा होना चाहिए। बिस्कुट और बन, डबल रोटी तथा मक्खन के लिए एक दो जालीवाली आलमारियाँ बनवा लेने से होटल करीने के हो गये होते तो फिर सब न कर लें? अण्डेवाले, दूधवाले, 'छड़े' दुकानदार या ऐरे-गैरे नत्थू खैरे आ गये तो बस हो गया काम····मक्खियाँ चीजों पर उड़ती रहेंगी। टेबलें साफ की जाएँगी तो लोगों के कपड़ों पर जूठन गिरेगी ही गिरेगी जरूरी बात है। चाहे आप सूट पहने हों, या तहमद लपेटे हों, शादीलाल के यहाँ का तो यही दस्तूर है।

रोटियाँ एक साथ प्लेटों में गँजा दी जाएँगी। गन्दे गिचगिचे गिलासों में तिलकटा पानी टेबल पर जोर से पटक कर दिया जाएगा। किसी दूसरे को प्याज खाते देख आपके माँगने पर दो बार अनसुना कर दिया जाएगा, और अगर लाया गया तो प्याज के साथ कंकड़ भी चबाइए। भला कोई पूछे तो इस शादीलाल से, कि अगर इस सब पर आने वाले को शऊर भी न मिला तो कोई क्यों आएगा ? आवाजें दीजिए····लौंडे हैं कि कानों में तेल डाले बैठे हैं।

अब यह बात दूसरी है, कि बेचारा पाँच आने में खाना भी अच्छा दे और ऊपरी टीमटाम भी हो। खाना सस्ता भी है। तरकारियाँ बुरी नहीं देगा····खूब उबली होंगी, मसालों में पकाएगा भी····फिर शादीलाल कहता भी तो है :

—"बाबूजी ! आलू भी गोश्त के माफक ही दूँगा।"

और उसकी आँखों में चमक आ जाती है।

नान तो पहले बनाता था वह, मगर आज भी बड़ी बड़ी जगहों के मुकाबले कबाब अच्छे ही देगा। फिर सौ बात की एक बात भई, शादीलाल नेकदिल है, लापरवाह जरूर है मगर मनमौजी और जीवट का है। वरना दिल्ली की रहास यों ही आफत और फिर क्या था इस बेचारेके पास ? जान हो, पहचान हो, कभी भी 'हसाब' पूछेगा नहीं, पैसे गिनेगा नहीं।

हाथ धोकर मैं रूमाल से हाथ पोंछ रहा था कि वह बोली....वैसे वो किसी से कभी भी नहीं बोलती····बस बात की बात कर ली, बहुत हुआ तो :

—"क्यों बाबू जी ! आज एक रोटी कम खायी ?"

—"नहीं तो, रोज के जितना ही तो खाया है·······"

और नोट मैंने 'बाबूलाल' को दिया।

—"रोज तो तुसी पाँच खाते हो जी, आज चारै·······"

लोई उसकी हथेलियों में सोचते हुए गोल हो रही थी।

—"त्वाड़ी रोट्टी बाबू कल से ठीक बनाएँगे।"

और मेरी 'रोट्टियाँ' ठीक तो क्या बनीं; पर उस औरत के 'नमस्ते जी' में आत्मीयता आ गयी। शादीलाल कई दिनों से मेरे पीछे पड़ा हुआ था, बात थी उसके कबाबों की। मैं गोश्त नहीं खाता, क्योंकि एक तो शौक नहीं और दूसरे 'सूट' भी नहीं करता। मगर शादीलाल भला एक बँधे, ग्राहक को अपने मशहूर कबाब एक बार भी न खिलाये, यह जरा नामुमकिन सी बात थी। मुझे क्या पता कि सीक कबाब में ज्यादा परेशानी होती है या शामी कबाब में। पूछने पर कह दिया था;

—"अच्छा शादीलाल ! तो फिर सीक कबाब।"

—"तो पादशाओ''''सेटरडे नाइट रही पक्की, भुल नहीं जाना तुसी। अरे बाबू जी, तुसी भी याद करोगे लौरवाले शादीलाल नूं।"

और वह टीन की कुर्सी पर बैठा-बैठा अपनी पतली मूँछे उमेठता रहा।

शनिवार की रात को जब मैं शादीलाल की होटल पहुँचा तो आज उसने बड़े जोरसे 'नमस्ते जी' झाड़ा। मंडी के कोने में यह होटल ही लाइटों से भरा था, बाकी दूकानों में, कुछ में अँधेरा और कुछ में कम पावर के बल्ब पीली रोशनी दे रहे थे। लोगबाग बाहर दीवालों पर टँगी खाटें दुकानों में बिछा कर सुस्ता रहे थे।

मेरे बहुत कहने पर भी शादीलाल साथ खाने नहीं बैठा। आज वह दिन भर कबाबों के पीछे ही पड़ा रहा। जब गोश्त को सीकों पर चढ़ाने की बात आयी थी, तब से शादीलाल ने किसी दूसरे को उन्हें छूने नहीं दिया। आज की रोटियों के लिए आटा भी उसने अलग सनवाया था। उसने मनाही कर दी थी कि बाबू को आज कबाब के अलावा और कुछ न दिया जाए'''' कबाब और रोटियाँ !!

फूली फूली सफेद लाल बुँदकियों भरी रोटियाँ आती रहीं और मैं

मिर्चवाले सौंफ की खुशबू के कड़क सुर्ख कबाब खाता रहा। शादीलाल अपनी उसी चाय की भट्टी के पास बैठा हुआ सन्तोष के साथ बीड़ी पी रहा था। खाते वक्त वह मुझसे आँखें मिलानेको भी तैयार नहीं था। मेरे बार बार बुलाने पर यही कहता रहा,

—"पैले तुसी खा लो जी बाद्शाओ""गल्लाँ फेर कर लांगे"......"

रोटियाँ बनाते हुए उस औरत की आँखों में कितनी आत्मीयता थी ? वे हड्डियाँ भरी हथेलियाँ, मुलायम लोई पर बहुत हौले घूमतीं""कैसे उम्दा सफेद गरम फूलों सी रोटियों को उस औरत के हाथ जनम दे रहे थे। बाबूलाल से मैंने कहा कि महराजिन से कहो कि एक आखिरी रोटी जरा खूब सिकी सी बना दे।

—"ओ ऐ माराजिन नहीं बाबूजी ! मेरी माँ है।"

कबाब के बदले दाँतों ने मेरी जीभ काट ली। गरम-गरम कबाब मेरे तालू में जलने लगा। मैं अचकचा कर उस 'बाबूलाल' को देख रहा था"" छिले आलू में जैसे किसी ने दाँत और आँखों के गड्ढे बनाकर कह दिया हो कि ये 'बाबूलाल' है, और सबने उसे मान लिया कि हाँ वह सचमुच का 'बाबूलाल' है।

खाँसते हुए शादीलाल ने वहींसे पूछा,

—"ए की होया जी पादशाओ ! बाबूलाल्""

बाबूलाल ने पंजाबी में शादीलाल को बताया कि बाबू जी ने माँ को महाराजिन समझा।

सच ही मुझे इस बात पर स्वयं पर बहुत क्रोध भी आया कि मैंने ऐसा क्यों समझा ? पर और समझता भी क्या।

शादीलाल अब उठकर मेरे सामने आकर खड़ा हो गया था। उसके कानों की सोने की दोनों छोटी-छोटी मुर्कियाँ बल्ब में चमक रही थीं।

—"बाबूजी ! त्वानू पत्ता नेई, ए बाबूलाल मेरा लड़का है और ओ

मेरी बीबी····"

—"मुझे माफ करना शादीलाल····"

और मैं बिना कुछ कहे-सुने होटल से भागा।

छोटी-छोटी लेनों में से पैर बढ़ाये घर की ओर बढ़ा जा रहा था। किसी के रेडियो से 'नेशनल प्रोग्राम' हो रहा था। छोटे-छोटे बँगलों के अहातेवाले फाटक, दरवाजे, खिड़कियाँ सब बन्द थे। उजालदानों से बँधी-बँधी रोशनियाँ आ रही थीं। तेज ठण्डी हवा सपाटे मारती हुई चल रही थी। दूर पर गोल चौराहों की लाल बत्तियाँ जल रही थीं।

मैं अपने से भाग जाना चाहता था। दिमाग में उठते हुए प्रश्नों से मुँह छिपा लेना चाहता था। ठण्डे कपड़ों में मेरा गरम शरीर भुरभुरा रहा था। रोओं की जड़ें तक फूल रही थीं।

जिसे मैंने औरत नहीं समझा था वह···

औरत भी है, पत्नी भी है औ माँ भी है।

शादीलाल उसका पति है····

और बाबूलाल उसका लड़का है····वो औरत उसकी माँ है।

मगर ये कैसी औरत है?···उसके लम्बे बाल कहाँ हैं?····पीठ पर के पल्लुओं में हों···मगर छुपाने की क्या जरूरत है? जवान शादीलाल की जवान बीबी क्यों नहीं? कब्र की तरह बुझी, ठण्डी····सलबटों भरे गाल····सर्द कौड़ियोंकी तरह····नहीं राख भरे बुझे कोयलों सी वे आँखें···शादीलाल की बीबी ऐसी क्यों है?···क्या बात है? जिसके ऐसी बीबी हो वह भी इतना खुश रह सकता है?····सुर्ख कबाब····सर्द सुफेद लाल बुँदकियों भरी रोटियाँ, गरम सोंधी गंध के वे रोटियों के फूल····छिले आलू सा बाबूलाल····और मैं उस रात करवटें बदलता रहा।

दुनियाँ में सब बात के नियम हैं। मोटी सी बात है कि दूध पीने से स्वास्थ्य बढ़ता है, या खुशामद करने से नौकरी मिलती है या बरकरार रहती है। शादीलाल का भी नियम है, और जिसे वह बड़ी ही बेफिक्री से सुनाता है····

"अपना तो बाबूजी ए असूल है कि कुछ मत्त मानों फेर वो दीन हो या दुनिया"····लेकिन शादीलाल के कहने भर से क्या होता है। वह ऐसा जरूर कहता है, पर झूठ कहता है। क्योंकि अपने होटल के लिए उसका यह नियम है जैसे········

पार्टीशनवाले दालान से लगे उन दोनों कमरों मे, जहाँ कि लोग खाना खाते हैं, हर इतवार को गेंदे की नयी मालाएँ लगायी जाएँगी और पुरानी उतारी जाएँगी। छत के बीच से दीवारों तक मालाओं का मण्डप सा उस दिन तन जाता है····लाल पीले गेंदे के फूलों का मण्डप····पता नहीं क्यों शादीलाल को गेंदा ही पसन्द है। एक दीवालघड़ी है उसके पास····जिसके पेंडुलम वाले शीशे में सुरैया की तस्वीर चिपकी हुई है। तस्वीर की आँखें काटकर पेंडुलम में लगादी गयी हैं और पेंडुलम के हिलने से सुरैया दिन भर आँखें मटकाती रहती है। दीवारों पर सोप कम्पनियों, बीड़ीवालों, घड़ीसाजों के कैलेन्डरवाले राधाकृष्ण, बालगोपाल, लक्ष्मी, सरस्वती आदि हैं, तो गुरुमुखी में छपे हुए कैलेन्डरों में गुरुसाहब का वंश, अमृतसर का स्वर्णमन्दिर, लाहौर के किलेकी दीवार में गुरुसाहब के दो बेटों को चुनवानेवाला चित्र····बेला बजाते अशोक कुमार वाला पोस्टर, जिसके सिनेमा के नाम वाला हिस्सा हवा में बरसों से उड़ते रहनेके कारण फट गया है। सभी तो हैं। इतवार को शादीलाल खुद या तो अपने हाथों से या खड़े रह कर इन्हें झड़वाना, पुँछवाना करवाता है। पानी से एक-एक चीज धोयी जाती है। छत में टँगा लोहे की तीलियों वाला अंडों का छीका भी इस "वीकली बाथ" से नहीं बच पाता।

रात को मैं देर से ही जाता हूँ उसके यहाँ। शनिवार की उस दिन वाली मेरी भूल के बाद शादीलाल और मैं बहुत निकट आ गये थे। अब वह कभी-कभी अपने प्लान सुनाया करता है कि वह भी 'कनाटप्लेस' में 'काके दा होटल' से भी अच्छा होटल खोलना चाहता है मगर....और इस 'मगर' के पेट में पता नहीं शादीलाल की कौन सी इच्छाएँ, उम्मीदें खोयी हुई हैं, और क्यों ? लेकिन वह 'मगर' शादीलाल का पीछा नहीं छोड़ता है। बातें शुरू तो करता है जवानों की तरह, लेकिन उस 'मगर' के बाद वह एक दम पीला जर्द हो जाता है........कहीं खो जाता है, उसकी वे आँखें महज दो चमकते हुए गड्ढे भर रह जाती हैं जिनमें न आब, न रोशनी।

आज भी मैं देर से पहुँचा तो देखा कि शादीलाल बाँस में पलीता लगाये तस्वीरों के पीछे के दो-तीन मधुमक्खी के छत्तों को जलाने में लगा हुआ है।

—"क्या कर रहे हो शादीलाल ?"

—"कुछ नहीं जी, ए भँमरसाल···"

और मधुमक्खियाँ छोटी खिड़की से बाहर उड़ी जा रही थीं।

शादीलाल बातूनी भी कम नहीं। दिल्ली की खुश्क सर्दियों में खाने के बाद लाल आँच में गरमाते हुए शादीलाल के साथ रावी और "लौर" की सैर भी कम दिलचस्प नहीं होती। घूम-फिर कर बातें पार्टीशन के झगड़ों तक ही रोज होती थीं, उससे आगे नहीं। आँच पर अँगुलियाँ उलटते-पलटते हुए बोला :

—"बाबूजी ! क्या नहीं हुआ उसके बाद ? मारकाट, जोर-जुलुम, छीना झपटी···सब, ये सब हुआ बाबूजी ! औरतोंकी अस्मत और आबरू कोई चीज रह गयी थी ? कुछ नहीं जी, ककड़ी के टूटने में तो थोड़ी आवाज भी होती है, मगर उतनी भी आवाज नहीं हुई। मकान में जब आग लग जाती है न जी, तब कैसी दीवारें काली-काली और बदशकल हो

जाती हैं····बस वैसे ही समझ लो जी····हमारे सबके जिस्म हो गये जी····वैसे ही तो हैं····हम सब बाबू जी····"

चप्पलों में ठिठुरते हुए अपने पैरों को आँच पर सेकते हुए मैंने कहा:
—"हाँ भाई ! मगर तुम तो सही सलामत आ गये न····"

और वह हँसा····जैसे पेट में या पसलियों के पास कहीं बड़े जोर का जानलेवा दर्द उठा हो····

—"अभी आपने जिन्दगी देखी नहीं जी····याद है, मैंने आप के लिए कितनी मोहब्बत से कबाब बनाये थे ? और आपने मेरी बीबी को, बाबूलाल की माँ को, उस दिन–माराजिन कहा था···बाबू जी ! सच्ची केता हूँ, बौत गुस्सा आया था आप पर····बौत ही ज्यादा···नेजा मार देता जी····"

और मैं काँप गया। मेरी पिंडलियाँ फड़क रही थीं। वह हल्के हँसते हुए बोला :

—"डरिए नहीं बाबू जी ! किस्मत ही फूटी हो तो फिर क्या····जाने दीजिए जी···"

और उसने मेरे कंधे थपथपा दिये। अँगीठी की लाल आँच में उसका मुँह तपाये ताँबे सा लग रहा था।

—"शादीलाल, मुझे मालूम नहीं था, बहुत शर्मिन्दा हूँ, माफ करना।····"

उसकी बल्लेदार मजबूत बाँहोंवाली खुरदरी हथेलियों ने मेरी कलाइयाँ कसकर थाम लीं।

—"बाबू जी····माफी की क्या बात है, पर····एक बात हमेशा जी, पसलियों में फँसी रहती है········"

और इतना कहकर वह चुप हो गया। शायद उसका दर्द और गुस्सा उन खुरदरी हथेलियों में लोहे की तरह धात बन गया था···मेरी कलाइयाँ दर्द कर रही थीं।

—"इसमें छुपाना क्या बाबू जी···ईमान की बात है···· मेरी बीबी

बेइज्जत की गयी, सरे आम···· और उसकी दोनों छातियाँ काट डालीं····''

कलाइयों पर लोहे के पंजे गड़ रहे थे। और पार्टीशन के उधर से शादीलाल की बीबी परात पर जोर से चिमटा बजाते हुए चीखी,
—''ओ ए, चुप कर, तैनू हो कुछ नई आन्दा ?

कान पर रखी आधी जली बीड़ी पर शादीलाल का हाथ गया।

मैं उठा पड़ा। शादीलाल की आँखें····दो लाल उबलते तेल के····तले के कुछ नहीं, बस वे आँखें फुँफकार रही थीं।

दस बजे रात का कुहरा घना होता जा रहा था। सर्द हवा पेड़ों पर से कूद-कूद सड़कों पर बेतहाशा दौड़ लगा रही थी। मेरे मुँह, हाथ, पैर सब थीजे (जमे) जा रहे थे।

मैंने जिसे औरत नहीं समझा था····

छातियाँ कट जाने के बाद····शायद फिर माँ न बन सकी····दूध जो न उतरता होगा···उससे उसकी इज्जत और छातियाँ लेकर लोगों ने उसे मर्द बना दिया··· बिना दूध की छातियों वाली शादीलाल की बीबी···· बाबूलाल की माँ···मर्द है····नहीं, कल से वहाँ नहीं जाऊँगा····।

तिष्यरक्षिता की डायरी

तिष्यरक्षिता की डायरी

यह डायरी तिब्बत के एक बौद्धमठ से अपनी तिब्बत यात्रा में मुझे प्राप्त हुई थी। मैंने इसका मात्र सम्पादन किया है। इसकी प्रति अत्यन्त जीर्णशीर्ण हो गयी है। इसे पढ़नेका काम मेरे एक बौद्ध भाषाविज्ञ मित्रने किया है—लेखक

पाटलीपुत्र : राजभवन
वैशाख पूर्णिमा : मध्यरात्रि

आज अब लौटना हुआ है—धर्मराजिकोत्सव से।

नयनतारा, दासी ही नहीं है, बल्कि अच्छी मित्र भी है। कितना शीतल, सुगन्धित जल था, स्नान में कितना सुख मिला। आज दिन भर लू चलती रही। मेघ घिरने की ऋतु आ चली है। आज की यह क्षीण गंगा तब इसी गवाक्ष के नीचे से प्रवाहेगी। अब जाकर वातास थोड़ी शीतल है। हवा में पके आमों की कैसी मादक गन्ध घुली हुई है।

धर्मराजिकोत्सव आज जाकर कहीं शेष हुआ। एक सप्ताह तक पाटलिपुत्र चषक की भाँति उफनता रहा। आर्यपुत्र अत्यन्त सन्तुष्ट हैं। बहुत थक गयी हूँ सम्भवतः इसीलिए नींद नहीं आ रही है। एक सप्ताह के इस आयोजन ने तो एकदम ही थका डाला है। सूर्योदय से सूर्यास्त तक छत्र-चामर के नीचे मर्यादित बैठे रहने से बड़ा कोई दुःख नहीं।

लेकिन यह दुःख ही कितना मादक तथा आकर्षक है। चारों ओर का जयकार आपको विस्तार देता है और राज्यासन, देदीप्यमान एकनिष्ठता। देश-विदेश के विनम्र होते हुए राजमुकुट, बलाधिकृतों के विद्युतफलकी समर्पित खड्ग, रत्नों और वस्त्रों के असंख्य थाल और विभिन्न दास-दासियाँ

लगता है पृथ्वी, दासी बनकर समर्पिता है। लोगों को विनय ही शोभा देता है और आप को उस विनय को स्वीकारना।

× × ×

—आज का धर्मराजिकोत्सव का आयोजन अद्वितीय था।

—क्योंकि एक महान् मौर्य सम्राट् ने बौद्ध प्रव्रज्या ली। आज समस्त मौर्य साम्राज्य में चौरासी हजार धर्मराजिको (स्तूपों) की स्थापना की गयी। सिंहध्वज रोपे गये। जिन पर "देवानामाप्रिय" के "अनुसंयान" खुदे हुए हैं। आज उपरान्त मौर्य सम्राट् महाराज अशोक, "प्रियदर्शी अशोक" कहे जाएँगे। सम्भवत: मैं भी उन्हें अब "आर्यपुत्र" नहीं कह पाऊँगी, इसलिए तिष्यरक्षिता आज से पतिहीन पत्नी, सम्राट्हीन पट्टमहिषी ही मानी जाएगी क्योंकि भिक्षु तो सम्बन्धहीन होते हैं। क्या मैं भिक्षुणी हो सकूँगी? वृद्धापकाल, काषाय में सुन्दर लगता है लेकिन यौवन तो नहीं न? आर्यपुत्र काषाय धार चुके लेकिन क्या, क्या तिष्यरक्षिता ऐसा कर सकती है? क्या उसके काँचन तन पर स्वयं काषाय न सुलग उठेगा? और क्यों? किस प्रयोजन के लिए?

चारो ओर कितनी शान्ति है। गवाक्ष के बाहर विशाखा चाँदनी कैसे हौले हौले बरस रही है। आकाश, चाँदनी में स्फटिक लग रहा है। पट्टमहिषी होने पर भी सहज पत्नी के सुख से वंचित। सम्भवत: कोई भी सब कुछ प्राप्त नहीं कर सकता है। हमें चुनना होता है। यह हम पर निर्भर करता है कि हम क्या चुनते हैं।

इस उत्सव के लिए यूनान और मिस्र ने विशेष रूप से राजवंशी शिष्ट मण्डल भेजे। अन्य पड़ोसी राष्ट्रों ने भी अपने आमात्य, राजदूत आदि भेजकर मैत्री प्रदर्शित की। कलिंग का राजकुमार नीलरत्न भी उपस्थित था। उसे देख कर मोह होता है। लगता है कलिंग बहुत सुन्दर

प्रदेश है। सुना है उसका सिन्धु तट बड़ा ही रमणीक है। कभी जाना चाहती हूँ। नीलरत्न कितना सरल है। उसे किंचित् भी राजसी गरिमा नहीं आती। अपने हाथ के मयूरपंख से कितना बरजती रही कि सम्राज्ञियों को घूरा नहीं जाता। किसी सीमा तक मूर्ख भी है। हँसता है तो लगता हैं कि जैसे एकान्त सिन्धुजल हँस रहा हो। पाटलिपुत्र के वैभव की आज पराकाष्ठा थी। नगर ओर का आकाश अभी भी आलोकित है। कितने तोरणद्वार, बन्दनवारें, मनोरञ्जन आदि आयोजित थे। मार्ग के दोनों ओर दर्शनार्थी प्रजा की गगनभेदी पक्तियाँ, जयकार। रथ पर लौटते हुए आज सहसा ध्यान आया कि यह जयकार किसकी की जा रही है? क्या उस सम्राट् की जो कि भिक्षु हो गया या सम्राज्ञी की, जो कि अभी भी पट्टमहिषी है? सम्राट के पास त्यागने को कितनी वस्तुएँ थीं—साम्राज्य, पत्नी, परिवार, युद्ध, दास-दासियाँ, हिंसा। इस त्याग की जयकार न होगी तो किसकी होगी? मैं क्या त्यागती? एक वृद्ध पति था, सो उसने ही त्याग दिया। और त्याग, वृद्धापकाल को ही शोभता भी है।

× × ×

आज आठ बरस हुए विवाह को। क्या इसी छोड़ देने के लिए वृद्धापकाल में विवाह लाये थे? एक दिन भी तो हम पति-पत्नी की भाँति नहीं रहे। लेकिन आज उन सब बातों पर सोच करना व्यर्थ है। निद्रा नहीं आ रही है। कानों में उत्सव की ध्वनियाँ जैसे भर गयीं हैं। दृश्य और लोग आँखों में तिर रहे हैं। झँझरी के पार नयनतारा कितनी निश्चित सो रही है। कोई कामना नहीं। कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं—सबसे हीन, इसीलिए नयनतारा के लिए रात्रि, नींद है और दिन····दिन है। अभी मुझे स्वरमण्डल पर विहाग सुनाकर गयी। समझी मैं सो रही हूँ और और आप भी जाकर सो गयी। सब सो गये हैं। दीर्घाएँ तथा भित्तियाँ तक सो रही हैं। केवल गवाक्षवाला दीपाधार ही आलोकित है। बाहर निर्मल एकान्त प्रशस्त है। नीचे कहीं दूर पहरूओं का "सावधान" चौंका

जाता है। बाहर गंगा की क्षीण धारा में कोई बालू भरी नौका काशी की ओर जा रही है। मछुआ कितना तन्मय गान कर रहा है। सम्भवत: उसकी युवती पत्नी मस्तूल के खम्भे से सटी अपने पति के संगीत में डूबी होगी और पति की साँचे ढली देह के लिए आकुल भी।

ओ कुणाल! मेरे प्रेम को तुमने "अभिगमन" कहकर तिरस्कृत किया। क्यों किया? मैं तुम्हारे पिता की पत्नी अवश्य हूँ लेकिन तुम्हारी माता नहीं। तुम मुझे अपनी ही दृष्टि में गिरा देना चाहते थे? लेकिन क्यों? कहीं तुम्हें अपनी सुन्दर आँखों पर गर्व तो नहीं है?

तुम धर्मराजिकोत्सव में आये हुए हो लेकिन भूलकर भी मेरे भवन नहीं आये। परसों महाराज के सम्मान में मैंने भोज दिया, उसमें भी तुम सम्मिलित नहीं हुए। अपनी पत्नी कांचनमाला को भी नहीं आने दिया, क्यों? एक बार ही आते तुम तो देखते कि····ओ मेरे पति के पुत्र मेरे प्रेमी! तुम्हारे पिता की पत्नी तुम्हारी प्रेमिका तिष्यरक्षिता, अनुक्षण तुम्हें स्मरण करती है। जानते हो कुणाल! मेरी इन बाहुओं में बँधने के लिए यूनान के सम्राट् तक लालायित हो सकते हैं। एक संकेत में साम्राज्यों का उत्थान-पतन कर सकती हूँ। तुम्हें किस बात का गर्व है? युवराज होने का? कुणाल पक्षी की भाँति नयन पा जाने का दर्प है? मैंने तुमसे याचना की और तुम मेरा तिरस्कार कर सके इस बात का घमण्ड है? तो कुणाल! तुम भी याद रखना कि तुमने तिष्यरक्षिता का तिरस्कार किया था। जाओ, तक्षशिला जाओ, प्रशासक बनकर रहो, देखती हूँ कितने दिनों तक? मैं या तो कामना करती नहीं हूँ और कामना करने के बाद पराजित होना नहीं जानती। मैं अशोक नहीं कि क्षमा, करुणा, विहिंसा में दीक्षित हो जाऊँ। यदि तुम मुझे प्राप्य न हो सके तो किसी अन्य के भी न हो पाओगे।

कुणाल! मैं फिर कहती हूँ कि आ जाओ, बस एक बार अपने उन

कुणालनयनों से मुझे एक प्रेमी की भाँति निहार लो। मैं इतनी सुन्दर आँखोंवाला पुत्र नहीं, प्रेमी चाहती हूँ।

मैं नहीं जानती कि मेरी इस वांछा का क्या होगा।

कल यूनान के शिष्टमण्डल ने भोज दिया है। महाराज की इच्छानुसार ही भोज में केवल दो मोर और एक हरिण ही होंगे। महाराज इसीलिए पूर्ण अहिंसा के पक्षपाती नहीं हैं वे तो केवल विहिंसा चाहते हैं। इस बार पशुओं का समाज-प्रदर्शन भी फीका ही रहा। धर्म की भी सीमा होगी, क्या महाराज इसको नहीं समझते ? क्या स्वर्गीय सम्राट् चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार के साम्राज्य का यह होना था ? आश्चर्य नहीं कि महाराज किसी दिन साम्राज्य ही विहारों की सेवा के लिए दे दें। लेकिन आज तो नहीं दे रहे हैं न ? सप्तर्षि डूबने ही वाले हैं। पलकें कड़ुवाहट से भर उठी हैं। अंग-अंग में कितनी थकान भर गयी है। नयनतारा को जगाकर थोड़ा सिर दबवा लिया जाए तो नींद अच्छी आएगी।

ज्येष्ठ प्रतिपदा : रात्रि

दिन भर वही व्यस्तता रही। आज एक यूनानी नृत्य भी देखने को मिला। मौर्य साम्राज्य के उत्कर्ष से यूनान कोई प्रसन्न नहीं है, यूनानी तक्षशिला पर दृष्टि लगाये हुए हैं। तक्षशिला में आमात्य लोगों ने विशेष अच्छा व्यवहार नहीं किया था। सभी असन्तुष्ट थे इसलिए युवराज को वहाँ भेजा गया ताकि सीमा पर राजवंश का सम्पूर्ण अधिकार बना रहे। कुछ भी हो यूनानी प्रसन्न जाति है। जीवन को उत्सव मानती है। महाराज से इस बार फिर प्रार्थना कर कुछ ज्योतिषी, कारीगर, भवननिर्माता वे यहाँ से अपने देश ले जाना चाहते हैं। मुझ से इस बारे में प्रातिसाख्य चाहते हैं।

वृष्टि की प्रतीक्षा है। गर्मियों में पाटलिपुत्र कैसा झुलस जाता है।

एकाध दिन में कुणाल तक्षशिला चला जाएगा। आज वह यूनानी

भोज में मात्र प्रदर्शन के लिए ही उपस्थित हुआ था। जिस समय मैं यूनानी राजकुमार से आलाप कर रही थी वह मात्र सौजन्यता निर्वाह के लिए ही आया। मैं उस पर क्रोध करना चाहती हूँ लेकिन पता नहीं क्यों मैं उसे देखकर विह्वल हो जाती हूँ। उसके नेत्रों में जादू है।

आषाढ़ प्रतिपदा : रात्रि

आजकल खूब वृष्टि हो रही है, लेकिन उमस नहीं गयी।

आज महाराज के साथ नौकानयन के लिए गयी थी। लगता है महाराज सबसे उदासीन हो गये हैं। किसी सीमा तक असामाजिक भी। सम्भवतः वे मुझसे प्रसन्न नहीं हैं। वे समझते हैं कि इस बढ़ी आयु में तिष्यरक्षिता से विवाह कर भारी भूल की। आयु का इतना अन्तर वे माला फेर कर नहीं पाट सकते। सबकी अपनी नियति होती है, मैं इसमें क्या कर सकती हूँ? कुणाल ने मुझे महाराज की दृष्टि में नीचे गिरा दिया। लेकिन मैं कहती हूँ कि पिता पुत्र दोनों को राज्य छोड़कर किसी मठ में चला जाना चाहिए। भिक्षु शासन करेंगे!! सब पुरुष और नारियाँ भिक्षु-भिक्षुणी हो जाएँ तो सृष्टि चल चुकी। कितना अच्छा होता यदि आमात्य चाणक्य के समय मैं होती। सम्राट् चन्द्रगुप्त का खड्ग होता, चाणक्य की नीति होती और तिष्यरक्षिता की महत्त्वाकांक्षा होती। नौका-विहार में स्थविर के प्रवचन ने तो ऊबा दिया। क्यों लोग चाहते हैं कि जब वे वृद्ध होने लगें तो दूसरे सब भी उनके साथ वृद्धाने लगें? यह निरी मूर्खता है। वृद्ध होने वालों को पशुओं के समाज में खेल के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए। वृद्ध होना अपमान है।

कुणाल को गये आज एक पक्ष हो गया है। जाने के दिन वह जाने क्या सोच कर यहाँ आया था। साथ में कांचनमाला को नहीं लाया, अच्छा किया। व्यक्ति, प्रत्येक समय हर किसी को नहीं चाहता कि कोई दूसरा भी हो। उसने बताया कि वह आजकल वीणा सीख रहा है। जब

तक वह बैठा रहा ऋतु, संगीत, ज्योतिष की ही चर्चा करता रहा। लगता है स्थिति को टाल जाने का ढंग उसे आ गया है।

मैं कुणाल को विदा देने महाराज के साथ नगर सीमा तक नहीं गयी।

महाराज बता रहे थे कि इस चतुर्मास के बाद धर्मयात्रा पर निकलना चाहते हैं। मुझे डर है कि कहीं मुझे भी साथ चलने के लिए बाध्य न किया जाए। धर्म की जय-जयकार करते हुए घूमने से तो अच्छा है कि व्यक्ति आत्महत्या कर ले। बड़ा घृणास्पद लगता है। कल एक मूर्तिकार आने वाला है जो मेरी प्रतिमा बनाना चाहता है।

श्रावण नवमी : मध्यरात्रि

मूर्तिकार, कलिंग का एक वृद्ध कलाकार है जो कि कलिंग युद्ध में बन्दी बना लिया गया था। महाराज ने उसे मुक्त कर दिया है। उसने राज-परिवार के सभी लोगों की मूर्तियाँ बनायी हैं। मैं उसे बराबर टालती आ रही थी। जब उसने बताया कि वह मेरी मूर्ति बनाये बिना कलिंग नहीं जाएगा तो अगत्या बनवानी ही पड़ी। मूर्तिकार अपने को सिन्धुसेन कहता है। मूर्ति अच्छी बनायी। आज महाराज भी मूर्ति देखने आये थे। कई महिनों बाद आर्यपुत्र मेरे भवन पधारे थे। वे काफी अस्वस्थ दिखने भी लगे हैं। उन्हें चाहिए कि जिस प्रकार राजकाज से वे विश्रान्ति लिये हुए हैं उसी प्रकार दूसरे घेरों से मुक्त हों। अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखें, लेकिन उनसे कौन कहे?

कल यदि मेघाच्छन्न नहीं रहा तो किसी उपवन की ओर जाना चाहती हूँ। नयनतारा न होती तो मैं कितनी विवश हो जाती। लगता है सामन्त कुमारसेन नयनतारा के लिए बहुत उत्सुक हैं। मित्रता हो जाए तो अच्छा है न?

कुणाल तक्षशिला पहुँच गया है, अश्वारोही आये थे।

इतना बड़ा उत्सव सहसा समाप्त हो गया, लगता है पाटलिपुत्र

एकदम ही रिता गया। कभी-कभी मृगया के लिए जाना चाहती हूँ, संभव है महाराज इसे पसन्द न करें। आजकल जी उबा देनेवाली निष्क्रिय शान्ति है। राजभवन भी मठ बनता जा रहा है

श्रावण अमावस्या : रात्रि

प्रियदर्शी महाराज अत्यन्त रुग्ण हैं। आज ही हिमालय के प्रशासक को महाराज की प्रस्तावित धर्मयात्रा की अस्वीकृति की सूचना भेजी गयी है। यूनानी तथा भारतीय वैद्यों की समझ में कुछ नहीं आ रहा है। वे निदान ही नहीं कर पा रहे हैं। बेचारे वैद्य; यह भी नहीं जानते कि वृद्धापकाल स्वयं ही असाध्य रोग है, और विशेषकर तब, जब असीम सुन्दर पत्नी दिन-रात सामने हो। सम्राट् धीरे-धीरे विवश होते जा रहे हैं।

क्या यह नहीं लगता है कि सारे सम्राट् और सम्राज्ञियाँ भी सहज मनुष्यों की ही तरह हैं? सम्राट् का भार आजकल मुझ पर आ गया है। सारा राजकार्य भी करना पड़ रहा है। लेकिन मेरी इसमें कोई रुचि नहीं है कि किस प्रशासक को प्रजारंजन के लिए कौन सा आदेश दिया जा रहा है। सिंहल में धर्म प्रचार का कार्य व्यापक हो गया है। राजकुमार महेन्द्र तथा राजकुमारी संघमित्रा को आये दिन इस बारे में पत्र जाते हैं।

पिछले दिनों से राजमुद्रिका लगाने का काम भी मुझे ही करना पड़ रहा है। कैसी विडम्बना है कि महाराज मुझे पूरी तरह नहीं विश्वासते फिर भी भार मुझ पर छोड़ने को बाध्य हैं। मुझे शंका है, आमात्यों में से किसी को कह रखा होगा, वह मुझ पर चौकसी करता रहे कि कहीं मैं महाराज के विरुद्ध कोई षड़यन्त्र न कर बैठूँ। महाराज किसी हठी बच्चे से कम थोड़े ही हैं। षड़यन्त्र, बच्चों और भिक्षुओं के विरुद्ध थोड़े ही किया जाता है? महाराज समझते हैं कि यूनान का जो शिष्टमण्डल

आया था वह मुझ से प्रभावित हो गया है। इतने राजकुमारों के रहते सन्तानहीन पट्टमहिषी से प्रभावित होने का क्या अर्थ ? यदि मेरे मन में कोई ऐसी बात न भी हो तो भी महाराज मुझे ऐसी स्थिति मे कर देना चाहते हैं कि कोई भी षड़यन्त्र किया जा सके।

धर्मराजिकोत्सव में सम्मिलित होने की बधाईवाले सारे पत्र महाराज को दिखा देती रही हूँ। लगता है महाराज चौंक-चौंक उठते हैं और वे निरीह से कक्ष ताकने लगते हैं। सम्भव है वे मेरे हाथों में अपने को आश्वस्त न पाते हों। कहीं वे अपने पुत्रों को तो नहीं अपने पास देखना चाहते ? तो क्या वे मुझे अपना नहीं मानते हैं ? तब मेरा क्या होगा ? क्या मुझे जीवन भर मात्र जलना ही होगा ?

कल पूछूँगी, क्या महाराज किसी कुमार को पाटलिपुत्र में देखना चाहते हैं ?

भाद्रपद चतुर्थी : सन्ध्या

मेरा संशय ठीक ही निकला। काफी बड़ा भूभाग बौद्धमठों के लिए दिये जाने के पक्ष में महाराज हैं। मैं क्या कर सकती हूँ ? कुणाल को बुलवाया गया है। युवराज के तिलक की चर्चा आमात्यों के स्तर पर की जा रही है। मुझसे छुपायी गयी है चर्चा। क्यों, क्या महाराज मेरी उपेक्षा कर अपने पुत्र का भविष्य बना सकेंगे ? मुझे कोई आपत्ति नहीं होती यदि मुझसे भी परामर्श कर लिया गया होता। अस्तु—

तो…………

भिक्षुसम्राट् प्रियदर्शी अशोक के पुत्र युवराज कुणाल !

कलंकिनी तिष्यरक्षिता के प्रेमी !

मेरे पति ने तुम्हें कितनी सुन्दर आँखें दीं और मैं उन्हें चाहती थी, लेकिन तुमने अस्वीकार किया। राजमहिषी का तुमने अपमान किया युवराज ! तो ठीक है, तक्षशिला के पौर को आज ही आदेश, एक तीव्र

अश्वारोही के हाथों भेजा गया है कि वह प्रशासक कुणाल की दोनों आँखे शीघ्र प्रेषित करे महाराज की यही आज्ञा है !

नहीं समझे ?

कोई बात नहीं। मैं समझाती हूँ। महाराज तुम्हारा तिलक करना चाहते है वे तुम्हें पाटलिपुत्र में उपस्थित देखना चाहते हैं। यही अवसर था कि मैं तुम्हारे वे दोनों सुन्दर नयन प्राप्त कर सकूँ। महाराज का आदेश लेकर जो अश्वारोही गया है उसे तो दो माह लगेंगे, लेकिन पौर को भेजा गया आदेश एक माह तक तक्षशिला पहुँच जाएगा और सम्भवतः आश्विन के समाप्त होने तक मैं उन दोनों सुन्दर नेत्रों को अपने ओठों से लगा सकूँगी।

× × ×

कुणाल !

मेरे पति के पुत्र मेरे प्रेमी !

तुम्हारे पिता की पत्नी तिष्यरक्षिता ने, जिसके प्रेम को तुम "अभिगमन" कह कर कलंकित कर गये, उसी तुम्हारी "माता" ने एक मादा कुणाल पाली है। उसका नर, एक वृद्ध कुणाल था। उस मादा कुणाल को नर कुणाल की सुन्दर आँखें चाहिए।

मेरे प्रेमी पुत्र !

तक्षशिला की ओर जाते हुए तीव्रगामी अश्वारोही की टापें तक सुन रही हूँ। इसी गंगा के काँठे-काँठे वह हिमालय की उपत्यकाओं तक जाएगा और फिर पंचनद के तीव्र नद को पार कर एक दिन तक्षशिला के पौर को ले जाकर महाराज का आदेश देगा। सच मानों मेरे प्रेमी पुत्र ! मैं उन दोनों नयनों का स्वागत तुम्हारे पिता से भी अधिक कर रही हूँ, जो कि तुम्हारा युवराजाभिषेक करना चाहते हैं।

कुणाल !

मेरे पति के पुत्र मेरे प्रेमी !

तुम्हारे उन कुणाल-नयनों के लिए मैंने दक्षिण के कलाकारों द्वारा एक माणिक मंजूषा बनवायी है। तुम सच मानों मेरे प्रेमी पुत्र ! मैं उन नेत्रों के लिए कोई सा भी पाप कर सकती हूँ। कैसी ही नारकीय यातना भोगने को भी तत्पर हूँ। मुझे अपने प्रेमी के वे नेत्र चाहिए। तुम मेरी व्याकुलता किसी जन्म में भी समझ न सकोगे।

मैं जानती हूँ, मेरा कलंक कोई नहीं सहन कर सकता। सच मानों, इस गवाक्ष के पास बरसों से बैठी हुई तुम्हारी प्रतीक्षा करती रही, लेकिन उस दिन दोष देकर जो तुम गये तो कभी नहीं लौटे। उस दिन तक्षशिला जाते हुए आये तो ऋतुओं की बातें करते रहे। भारत ने यूनान को ज्योतिष में क्या देन दी है, इस बात पर चर्चा करते रहे। क्या तुम ज्योतिष की बातें करने के लिए तक्षशिला से आये थे ? जानती हूँ कि तुम्हें कांचनमाला ने सभा-चतुर बना दिया है।

कभी तुमने सोचा कि कोई पत्नी, पिता के समान वृद्ध पति को क्या सौंप सकती है ? पत्नी का समर्पण पिता को तो नहीं किया जाता न ? और सम्भव भी होता तो वृद्ध पति जाकर भिक्षु बन गया। अब बताओ कुणाल ! मेरा प्रेम 'अभिगमन' है ? कभी मेरा वैदग्ध्य क्यों नहीं समझा तुमने ? तुम्हारे पिता विवाह लाये थे मात्र इस तथ्य से ही माता मान ले गये ? जब कि मैं उनकी पत्नी कितनी थी कभी यह भी सोचा ?

मेरा निवेदन, मात्र नारी का एक पुरुष के प्रति था। तुम भूल गये कि नारी भी पृथिवी की भाँति वीरभोग्या होती है। मैंने तुम्हें प्रेम देना चाहा और प्रतिदान में तुम मुझे धर्म देने लगे। बताओ मैं धर्म लेकर क्या करती ? और तुम मुझे सदा के लिए लांछित कर गये।

कोई बात नहीं, कलंकिनी तिष्यरक्षिता के धर्मभीरु प्रेमी पुत्र ! अपने इसी गवाक्ष के पास बैठ कर मैं तुम्हारे उन कुणाल नयनों से पूछूँगी कि ब ताओ—धर्म बड़ा था या प्रेम ?

भाद्रपद पूर्णिमा : मध्यरात्रि

गत एक पक्ष से मेघ थमने का नाम भी नहीं लेते। दूर किले की दीवारें हरी काई में कितनी सुन्दर लगती हैं दिन में। पहले तो काम की निश्चिन्तता थी लेकिन अब काम ही काम रहता है। महाराज का स्वास्थ्य ठीक ही नहीं हो रहा है। पिछले दिनों महाराज के ही भवन में रहना पड़ा। अनेक दिनों उपरान्त महाराज के भवन में रहने पर सहसा कितना अजीब लगा। आरम्भ के वर्ष स्मरण आ गये। तब आँखों के सामने अजीब स्वर्णिम स्वप्न था। इस समय जिस प्रकार चन्द्रमा और मेघों ने मिलकर आकाश में जो एक रहस्य-लोक बना रखा है ठीक ऐसा ही रहस्य लेकर प्रथम यौवनवती सी यहाँ आयी थी। महाराज तब भी वृद्ध थे, लेकिन फिर भी सम्राट् थे। वीतरागिता भले ही रही हो किन्तु भिक्षुत्व नहीं था। वे तब भी मादक अवश्य थे भले ही उद्दाम न रहे हों।

इन आठ–नौ वर्षो में जाने कितनी बार गंगा की भाँति उफनाती रही। प्रत्येक बार बाढ़ आती है। लगता है इस बार कगार चूर-चूर हो जाएँगे। प्रलय हो जाएगी। लेकिन वाह रे विस्तार के धैर्य ! कि कैसी ही बाढ़ सदा उतर जाती रही है।

× × ×

गङ्गा में आजकल खूब बाढ़ है। घाटों पर पानी आ गया है। किले की दीवारों को छूकर जब पानी बहने लगता है तो लगता है जैसे आप किसी विशाल पोत में बैठे हुए हों।

आज पूर्णिमा वाला ब्रह्मभोज था। गत वर्षों से इस दिन भिक्षुओं को भी भोज दिया जाने लगा है। चाहती हूँ कि कुछ दिनों के लिए किसी समुद्र-यात्रा पर चली जाऊँ। क्यों नहीं नीलरत्न को सूचना कर दी जाए ? कलिंग भी देख लिया जाएगा। हमारी नौसेना का एक बेड़ा वहाँ है ही। अनेक दिन हुए समुद्र-यात्रा किये। किसी दिन महाराजसे कहूँगी।

क्या अश्वारोही तक्षशिला नहीं पहुँचा होगा अब तक ?

मैं तो नयनतारा की सामन्त कुमारसेन से मित्रता करवाने की बात ही सोच रही थी और कल ज्ञात हुआ कि आगामी फाल्गुन में दोनों विवाह करना चाहते हैं। इस बात से मुझे उतना सुख नहीं हुआ जितना कि होना चाहिए था। फिर भी मैं सुखी हूँ। नयनतारा और उसका सामन्त दोनों ही चाहते हैं कि मैं इसकी आज्ञा महाराज से दिलवा दूँ। कुछ भी सही नयनतारा अगत्या सुखी हो यही मेरी भी कामना है।

आश्विन द्वितीया : उत्तर रात्रि

आज विन्ध्या पार की एक गायिका आयी थी। अभी-अभी वह गान समाप्त कर गयी है। महाराज को अब किसी कला में रुचि नहीं रह गयी है और फलतः मुझे ही खटना पड़ता है। शिल्पियों के लिए तो स्तूपों, ध्वजों तथा शिलालेखों का ढेर सारा काम है लेकिन संगीत में महाराज की रुचि पहले भी विशेष नहीं थी, क्या किया जाय इन लोगों का ?

आज महाराज पूछ रहे थे कि मैं कुणाल के बुलाये जाने से प्रसन्न हूँ कि नहीं। मैं समझती हूँ इस पूछने का क्या मतलब था। युवराज के अभिषेक के बारे में दूसरी चर्चाओं के बीच इस प्रकार बता गये जैसे मुझे पहले से ही ज्ञात था। मैंने भी कोई आश्चर्य प्रकट नहीं किया। महाराज को थोड़ा आश्चर्य अवश्य हुआ।

महाराज कहीं मेरा अपमान तो नहीं करना चाहते हैं ?

कुणाल ! मैं क्या चाहती थी ? यही न कि कुणाल सम्राट् बने और तब मुझे पट्टमहिषी बनकर पार्श्व में बैठना मिले और मैं सार्थक हो जाऊँ। इसमें क्या अनैतिक था और क्या अनैसर्गिक ? जिस सुन्दर नेत्रों के बारे में सुनकर यूनान के सम्राट् ने अपनी पुत्री तुम्हें विवाह देनी चाही, जब वे ही नेत्र मेरी इस देह को देख लेते तो मैं उपकृत हो जाती। ठीक है, तिष्य-

रक्षिता और धर्म के बीच जब तुमने धर्म को चुना तब देखें धर्म किस प्रकार तुम्हारी रक्षा करता है।

आओ, पाटलिपुत्र, आओ, भावी मौर्य सम्राट् !

पाटलिपुत्र अपने सुन्दर नेत्रोंवाले अन्धे युवराज का स्वागत करने के लिए आतुर है। तुम्हारे भिक्षु पिता शून्यकक्ष ताकते हुए तुम्हारे तिलक के दिवास्वप्नों में डूबे रहते हैं। मैं तक्षशिला के पौर का भय से पीला पड़ा मुख देख रही हूँ। उसे विश्वास नहीं हो रहा कि भला सम्राट् मौर्य साम्राज्य के युवराज के नेत्र निकालने का आदेश अकारण ही दे सकते हैं। वह तुम्हारी ओर देखता है और हतप्रभ !!

उन परम सुन्दर कुणालनयनों से जाने कितने सूर्योदय और सूर्यास्त तुमने देखे होंगे कुणाल ! और दो चार सूर्य देख लो मेरे प्रेमी पुत्र ! उसके बाद तो ये आँखें मेरे गवाक्ष की इस वेदी पर शोभित रहेंगी। कुणाल ! स्वप्न में तुम्हारे ये दोनों नेत्र मेरा पीछा करते हैं और मैं उन्हें पुकारती हुई आकाश में खो जाती हूँ।

कार्तिक पंचमी : रात्रि प्रथम प्रहर

आज तीन दिन से गंगा पार एक सेवक भेजा जाता रहा है ताकि तक्षशिला से लौटा अश्वारोही जो भी लाया हो वह ले लिया जा सके। तीन दिन कितने वैसे बीते। सहज नहीं हो पा रही थी। बार-बार मेरे चौंकने पर महाराज ने हल्के टोका भी था।

अश्वारोही को तीन दिन विलम्ब हुआ।

नयनतारा का सांकेतिक समाचार मिलते ही मैं किंचित् अधीर हुई, सिर पीड़ा का बहाना बना उठ आयी। शिविका में रास्ते भर उत्सुकता, भय, वितृष्णा और जाने क्या-क्या होता रहा। यदि मर्यादा का ध्यान न होता तो पूरा भवन, सीढ़ियाँ सब कुछ दौड़ कर पार करती।

नयनतारा ने जब एकान्त में निकाल कर कुणालनयन दिखाये, एकक्षण

को मैं विभोर हो गयी। कितने अप्रतिम सुन्दर नेत्र !! मैं सोच नहीं पा रही थी कि वे कुणाल के नेत्र हैं। कैसे निरीह दो उज्ज्वल सीपियों की तरह। यदि उन्हें आकाश में उड़ जाने को कह दिया जाता तो वे सीधे तक्षशिला जा पहुँचते।

मेरे नेत्रहीन प्रेमी ! मैं जानती हूँ कि तुम्हारे ये नेत्र दो देवशिशुओं की तरह हैं कुणाल ! तुम सोच नहीं सकते कि आज मैं इन दोनों को क्षण भर को भी ओठों से विलग न कर सकी।

आज मैं कितनी प्रसन्न हूँ, आज मुझे कितना पश्चात्ताप है।

ये अमृतनयन मेरे लिए विषनयन क्यों हो रहे हैं ?

ओ मेरे पति के पुत्र मेरे प्रेमी ! ये ननय अब हँसते नहीं हैं। उस दिन का क्रोध कहाँ है ? ये अब घृणा भी नहीं करते और, और कुणाल ! ये अब कुछ नहीं देखते, कुछ नहीं देखते। इतने अपरिचित नयनों को तो समर्पण नहीं कर सकती कुणाल ! मैं इन्हें पाकर अमर होना चाहती थी। मेरी पीड़ा का कहीं अन्त नहीं दिखता। जानती हूँ कि नेत्र निकलवा कर मैंने असह्य पीड़ा तुम्हें पहुँचायी है। आओ मेरे प्रेमी पुत्र। मैं उन खोखले रन्ध्रों को चूमकर सारी पीड़ा हर लूँगी।

हमारे तुम्हारे बीच ये दो ही तो नयन थे कुणाल !

पहले मैं अन्धी थी और तुम नेत्रवान थे। आज तुम अन्धे हो और कैसे कहूँ कि मैं नेत्रवती हूँ। कुणाल ! मैं आजन्म अन्धी ही रही क्या ??

तुम इन्हें पाकर नहीं रख सके और मैं इन्हें उपलब्ध करके भी सहेज न सकूँगी।

ये नेत्र दुःख के देवता ही रहे कुणाल !

पंचमी का तिर्यक चद्रन्मा कार्तिकी आकाश में फूट आया है। रात्रि आलाप सी आरम्भ होने लगी है। जानती हूँ कि जैसे ही महाराज को इस कृत्य की सूचना मिलेगी वे मेरी बोटी-बोटी कुत्तों से नुचवा डालेंगे। उनके

एकमात्र प्रिय पुत्र को नेत्रहीन करने वाले व्यक्ति को वे कभी भी जीवित नहीं छोड़ेंगे। कोई बात नहीं कुणाल ! मैं तुम्हारी देह के श्रेष्ठ को किसी भी रूप में सही, पा तो सकी। जानती हूँ मेरा भविष्य शताब्दियों के लिए मर चुका। केवल उपेक्षिता, लांछिता, तिष्यरक्षिता को ही लोग बूझेंगे। लेकिन कोई मेरी असीम परितृप्ति, दाह को नहीं बूझ पाएगा कुणाल ! संभवतः तुम भी नहीं जिसके लिए मैं, तिष्यरक्षिता पापिष्ठा हुई।

अगत्या कुणाल ! मैं सदा आभारी रहूँगी कि तुमने मेरी परितृप्ति के लिए नेत्रदान किया।

आज मैं पवित्र हो गयी कुणाल ! आज मैं परितापित हो गयी।

मैं उज्ज्वल कलंकिनी सही कुणाल ! तुम तो अकलंक रह सके।

राजकारागृह : पौष चतुर्थी : ब्राह्मवेला

आज एक मास से वन्दिनी हूँ यहाँ।

इस बीच घटनाएँ इतनी तीव्रता से हुई हैं कि जैसे सूत्र सारे बिखर गये हों। एक महान् नाटक पटाक्षेप की प्रतीक्षा कर रहा है। साम्राज्य के लिए असह्य हो उठा है कि एक मौर्य पट्टमहिषी दुराचारिणी, कलंकिनी निकली। प्रियदर्शी लज्जा से विक्षिप्त हैं। सुना कांचनमाला के साथ युवराज को लेकर तक्षशिला का पौर स्वयं उपस्थित हुआ है।

न्याय अभिषद के सामने दुरभिसन्धि रही कि पट्टमहिषी का क्या किया जाए ? इतिहास में कोई उदाहरण नहीं मिलता।

बिना मुझसे पूछे ही महाराज आश्वस्त हो गये कि यह कुकृत्य तिष्यरक्षिता ने ही किया है। नयनतारा ने जब रात्रि के प्रथम प्रहर में आये पाटलिपुत्र के पौर से सुना कि सवेरे सूर्योदय के पूर्व गंगातट पर मेरा अग्निदाह किया जाएगा, वह मूर्ख पगला उठी है।

पौर से कहने को मन हुआ कि महाराज से निवेदन कर दो कि मैं उन्हें अन्तिम बार देखना चाहती हूँ, लेकिन व्यर्थ।

मैं इस समय सैनिकों की प्रतीक्षा कर रही हूँ वे किसी भी समय आ सकते हैं। पौ फटने में विलम्ब तो नहीं लगता।

आज रात भर इस गंगा तट पर उल्काओं का आलोक तथा लोगों के आवागमन का अपार नाद देखती-सुनती रही हूँ। कितना उत्साह है लोगों में। रात भर से लाखों की संख्या में प्रजा एकत्र हो गयी है। किसलिए ? दुराचारी को दण्डित होते देखने के लिए अथवा पट्टमहिषी को जो जीवित जलाया जाएगा, वह देखने के लिए ?

आज रात कितनी ठण्डी हवा चल रही है। अभी भी कुहरा साफ नहीं हुआ है। यह तो सैनिकों के चलने की आहट है।

तो—

सैनिक भी आ गये ? लेकिन अभी मैंने रात की भूषा नहीं बदली। नयनतारा भूषा ले आ रही है। सो—पटाक्षेप ?

* अभी-अभी राजमहिषी को सैनिक ले गये हैं। मशाल के काँपते प्रकाश में अभी उनकी काली भूषा सामने के अँधेरे में तिरोहित हुई है। यह भूषा पौर ही दे गये थे। भूषा पहनाते मेरे हाथ काँप रहे थे। मैं फूट पड़ना चाह रही थी लेकिन महादेवी एकदम निर्विकार थीं। मुझे एक बार देखा और ईषत् मुस्कान के साथ वे सैनिकों के साथ हो लीं।

सैनिकों के साथ कारागृह का बड़ा सा ज़ीना उतर कर पंक्तिबद्ध सैनिकों से रक्षित मार्ग से होती हुई उस वेदी की ओर बढ़ीं, जहाँ कि उन्हें जलाया जाना था।

पौपिया तेज शीतल हवा इस समय सपाटे मारते हुई बह रही है।

* इसके उपरान्त डायरी व्यक्तिवाचक संज्ञा में नहीं है, लगता है नयनतारा ने इसे सम्पूर्ण किया है।

अपार समूह साँस रोक भय, वितृष्णा से महादेवी की ओर देख रहा है। सूर्योदय होने को है।

उस बेदी से हटकर एक ऊँचे मञ्च पर सम्राट् और युवराज दोनों ही उपस्थित हैं। महाराज को देखकर वे क्षण को हल्के रुकीं, फिर बढ़ गयीं। उन्हें बेदी के खम्भ से बाँध दिया गया और तत्क्षणात् ही महाराज का काँपता हाथ उठा और बेदी सुलग उठी।

लाल-लाल लपटों में महादेवी का मुँह झुलसे ताँबे सा एक क्षण चमका और उसके बाद........

दूसरे की पत्नी के पत्र

दूसरे की पत्नी के पत्र

मुझे अपने इस मित्र से अत्यधिक स्नेह है जो कि आजकल मेरे ही साथ ठहरा हुआ है। जिन दिनों मैं विवाहित था तो वह कुँवारा था और आज जब यह विवाहित है तो मैं विधुर हूँ। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि जब यह आया करता था तो मेरी पत्नी अत्यधिक प्रसन्न रहा करती थी और आज जब कभी मैं इसके यहाँ जाता हूँ तो इसकी पत्नी भी अत्यन्त प्रसन्न रहती है। मैं समझता हूँ कि मित्रों की पत्नियों को ऐसा ही होना भी चाहिए। यह हमारा सौभाग्य था कि हमें वैसी ही पत्नियाँ प्राप्त थीं किन्तु इससे बड़ा दुर्भाग्य यह था कि वे दोनों एक बार ही तथा वह भी तीन दिन से अधिक साथ न रह सकी थीं। उसके पश्चात् मैंने मिथ्या आदर्शवाद के कारण पुनः विवाह नहीं किया। इसका प्रभाव मेरे समस्त जीवन पर किस प्रकार हुआ यह बताना इस समय मुझे अपेक्षित नहीं किन्तु उसी प्रभाव की प्रशाखा रूप में जो घटना घटी है उसे मैं कहना चाहता हूँ।

विगत पन्द्रह दिनों से मेरा यह मित्र श्री सुकान्त आया हुआ है। देखने सुनने में सुन्दर भले ही न हो किन्तु मोहक निश्चित रूप से है। वैसे लोगों को, विशेष रूप से महिलाओं को खल्वाटवाला व्यक्तित्व अप्रिय होता है किन्तु मैं जब किसी प्रकार भी अपने को खल्वाट न कर सका तो अपनी इस भावना की पूर्ति अपने मित्र को खल्वाट में की। मेरे ही कहने से वह गहरे रंग का सोलो पहनता है और थ्रीपीस सूट भी। तात्पर्य यह कि यदि मैं श्री सुकान्त होता तो ऐसी ही भूषा पहनता और चूँकि वह ऐसी ही भूषा पहनता है अतएव आप सोच सकते हैं कि मुझे वह कितना प्रिय होगा। श्री सुकान्त काशी विद्यालय में मेरे साथ स्नातक था और आज वह वहाँ कृषि विभाग में अध्यापक है। अपने शोध कार्य के सम्बन्ध में यहाँ

कुछ सरकारी आँकड़े एकत्र करने आया हुआ है। दिन भर वह भी व्यस्त रहता है और अपने आफिस में मैं भी। अपनी रुचि से मैं साहित्यक हूँ किन्तु लेखक नहीं, इसलिए अवकाश वेला पढ़ता हूँ। लखनऊ आने पर एक नयी आदत ने जन्म ले लिया। और वह है साँझ होते ही काफी हाउस में बैठना। बैरे भी जानते हैं कि ६–१५ पर मैं निश्चित रूप से किसी भी ऋतु में उस ईशान कोणवाली टेबल के खिड़की संग रखे मोढ़े पर होता हूँ। यों मेरे मित्रों की संख्या लखनऊ में नगण्य सी ही है इसलिए अधिकतर शेष तीनों मोढ़े खाली पड़े रहते हैं। लेकिन विगत पन्द्रह दिनों से मैं और मेरा मित्र वहाँ बैठते हैं। अपनी आदत के अनुसार मैं नयी पुस्तकों, साहित्यिक मतवादों पर, बैठा-बैठा आवेश में हाथ हिलाता हुआ विचार प्रकट करता हूँ। मेरा यही आवेश, जब दूसरे मेरी ओर कुछ क्रोध एवं कुछ भर्त्सना भरी आँखों से देखने लगते हैं तब उफनाते दूधकी भाँति बैठने लगता है। वस्तुतः मुझे इस सब की कभी कोई चिन्ता नहीं रही है। कारण कि मैं स्वप्नदर्शी एवं बकवासप्रिय व्यक्ति हूँ। किन्तु मित्र मण्डली में ही। अन्यथा अन्य जनों के बीच मेरी सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती है। काफी हाउस के बाद दो चार पुस्तकों की दुकानों में ताकते झाँकते 'कपूर' में खाना खाते हैं और चूँकि आजकल सर्दियाँ हैं इसलिए हल्का ड्रिंक भी। यह सब करते-कराते मैं अपने तीन कमरों वाले बासे पर दस पर्यन्त ही पहुँचता हूँ। जब मैं अकेला होता हूँ (मित्रों के न होने पर वैसे अकेला ही तो होता हूँ।) तब खिड़कियों भरा वह बरामदे से सटा कमरा ड्राइंग रूम का काम देता है। उससे सटा एक तो गलियारा है और उस गलियारे के सामने दो खुले कमरे हैं। एक में मैं सोता हूँ और दूसरे में मैंने अपना छोटा सा पुस्तकालय बना रखा है। पहले मैं इतना सब्जेक्टिव व्यक्ति नहीं था। पुस्तकों को भी काश्मीरी नाव के माडल की भाँति ही शोभा के लिए खरीद लाता था और ड्राइंग रूम में सजा रखा था। उन दिनों किसी मित्र के आने पर या परिचित के सम्मुख पुस्तकों के विषय में आँखे बन्द

करके चर्चा करने पर मुझे उतना ही संतोष होता था जितना कि लोगों को अपने कुत्तों के विषय में। किन्तु आज जब कि मेरी पत्नी नहीं है ये पुस्तकें मुझ से बातें करती हैं। उन्हें तब एक दिन इस अन्दरवाले कमरे में ले आया। पहले यह कमरा मेरी पत्नी का निजी कमरा था। स्त्रियों के निजी कमरे का तात्पर्य सदैव यही होता है कि वहाँ वे शृंगार करती हैं। कई बार पत्नी के शृंगार पूरा होने की प्रतीक्षा इसके बन्द दरवाजों पर मैंने की है। पत्नी के शृंगार की वे सारी वस्तुएँ बहुत सहेज कर मैंने अपने कमरे में सजा रखी हैं, जैसे इन वस्तुओं की स्वामिनी दो चार दिनों के लिए कहीं बाहर गयी हो। एक पहाड़ी नौकर भी है जो इसलिए मुझ से प्रसन्न रहता है कि उसे अधिकतर एक बेला ही खाना बनाना पड़ता है। अस्तु--

श्री सुकान्त के विवाह को भी आज पाँच वर्ष से कुछ अधिक ही हुआ होगा। उसकी लाल बड़े फूल सी एक तो लड़की है। दम्पति को जितना सुखी होना चाहिए मैं समझता हूँ कि श्री सुकान्त, उसकी पत्नी श्रीमती सुनयना तथा उनकी लड़की अरुणा बहुत सुखी हैं। काशी में इनके बँगले की लताओं से लेकर मेकलीन पेस्ट तक में सुरुचि एवं सुषमा का परिचय मिलता है। प्रत्येक वर्षगाँठ पर बच्ची की छवि एक एलबम में सँजोये हैं, जिनका उनके दाम्पत्य जीवन में गहरा अर्थ है। विशेषकर मुझ जैसा विधुर व्यक्ति जब इनके यहाँ जाता है तो वह गहरा सन्तोष अनुभव करता है।

जब मैं अपने मित्र के साथ लान में बैठा-बैठा चाय पीता रहता हूँ तभी डाक आती है। अधिकतर डाकिया मेरे बँगले के सामने से बिना झिझके निकल जाता है कारण कि मैं चिट्ठी-पत्री लिखने के मामले में इतना आलसी हूँ कि जिन दिनों मेरी पत्नी मालती का मुझसे रोमांस चल रहा था, मैं प्रयाग में था और वह काशी में थी। मैं उसके प्रतिदिन के पत्रों

के उत्तर में हर शनिवार को काशी पहुँच जाता था किन्तु दो पंक्तियाँ लिखना असम्भव था। आज जब मालती नहीं है तो सोचता हूँ कि पत्र न लिखना कितना बुरा हुआ। परन्तु आप भी मुझसे सहमत होंगे कि उन बातों का पश्चात्ताप करना निरर्थक है। जो नहीं है वह नहीं है और जो नहीं हो सका वह भला अब कैसे हो सकता है? ठीक इसके विपरीत मैं देखता हूँ कि श्री सुकान्त के पास उसकी पत्नी के पत्र नित्य आते हैं और जिन्हें वह चमकती आँखों, उछलते मन तथा हल्के काँपते हाथों से खोलता है, बाँचता है और मैं अखबार की आड़ में से अनुभव करता हूँ हल्के बुदबुदाते वह एक-एक पंक्ति को कई-कई बार पढ़ता है। और तब वह कितने प्रसन्न मुख से उसका उत्तर भी कभी-कभी लिखने बैठ जाता है। स्पष्ट कहूँ कि मुझे वह सब अच्छा लगता है और अपनी यह प्रसन्नता उसकी ओर एकटक देखते हुए प्रकट भी कर देता हूँ। मुझे यहाँ तक अनुभव होने लगता है कि श्री सुकान्त मेरा मित्र नहीं वरन् पुत्र है और जिसकी एक सुन्दर पत्नी है तथा जो सुन्दर पत्र भी लिख सकती है। मैं समझता हूँ कि मित्रों के बीच इस प्रकार के अनुराग की अपेक्षा है।

तो एक दिन, अर्थात् श्री सुकान्त को आये हुए चार-पाँच दिन ही हुए थे, मैं बाहर बैठा चाय पीकर अखबार पढ़ रहा था। श्री सुकान्त को जल्द जाना था इसलिए वह बड़े सबेरे गुसलके लिए चला गया था। नित्य की भाँति डाकिया एक लिफाफा श्री सुकान्त के नाम का तथा एक पत्र मेरे नाम का दे गया। सहसा अपना भी पत्र देखकर आश्चर्य हुआ और उत्साह के बाद पत्र खोला। वस्तुतः बात यह थी कि पिछले दिनों से मैं भी चाहने लगा था कि कोई पत्र आये। और आज एक पत्र देख कर सुख हुआ किन्तु वह एक गोष्ठी का निमंत्रण था और मैंने झल्लाकर उसे पटक दिया। मुझे लगा कि मैं कितना नीरस व्यक्ति हो गया हूँ कि मेरे पास पत्र तक नीरस आते हैं। सामने ही टेबल पर श्रीमती सुनयना का श्री सुकान्त के नाम पत्र पड़ा हुआ भोर की पुलोवर की भाँति गरम

धूप में चमक रहा था। स्त्रियोचित टेढ़े अक्षरों वाला वह नीले लिफाफे का पत्र अपने खोले जाने की प्रतीक्षा में एक गानेवाले पाखी सा लग रहा था। मेरा हाथ सहसा उस पत्र की ओर उठा और मेरी अँगुलियाँ उसे धीरे-धीरे उसी तरह सहलाने लगीं जैसे हम बिल्ली की नरम बालोंवाली पीठ सहलाते हैं और गहरे सुख का अनुभव करते हैं। तभी मैंने अनुभव किया कि श्री सुकान्त गुसल लेकर कमरे में गुनगुनाता हुआ वस्त्र बदल रहा है और थोड़ी देर में यह पाखी उसके कानों में धीमे-धीमे वह सारा सङ्गीत सुना देगा जो कि इसके प्रेषक ने सिखाया होगा तथा उसका एक स्वर भी मुझ तक नहीं आएगा। मुझे सहसा प्रयाग के वे दिन स्मरण आ गये जब कि ऐसे ही एक पाखी नित्य मेरी मुँडेर पर भी आकर गाता था और मैं भी''''और तभी श्री सुकान्त का वह पत्र मेरे गाउन की जेब में पहुँच गया। मैं सच कहता हूँ कि मैंने उस पत्र को इतने जोरों से अपनी मुट्ठी में कस रखा था कि जैसे वह पत्र मुक्ति पाने के लिए जूझ रहा हो। तभी श्री सुकान्त ग्लीसरीन से चमकते बालों में मुस्कुराता हुआ आया और टेबल पर पत्र खोजने लगा और मैं अखबार में नेहरू की यशगाथा पढ़ रहा था।

—''डाक तो आ गयी न बिशन ?''

—''हाँ आज तुम्हारा कोई पत्र नहीं, बस यही एक मेरा निमंत्रण भर आया।''

श्री सुकान्त ने निमंत्रण पढ़ कर टेबल पर रख दिया। किंचित दुःख से एवं हल्की जलभरी आँखों से वह अखबार देखने लगा। आज बेमॅन से उसने जल्दी-जल्दी नाश्ता किया और फाटक के बाहर हुआ। दूर तक लेन में जाते हुए श्री सुकान्त की पीठ दिखती रही। आज उसकी चाल में वह फुर्ती एवं विश्वास नहीं था जो अन्य दिनों होता था। मैं शीघ्रता से उठा और अपने कमरे के दरवाजे बन्द कर श्री सुकान्त का पत्र पढ़ने लगा। पता नहीं क्यों मैं काँप रहा था और अपने ऊनी गाउन में भी

शीत का अनुभव कर रहा था। पत्र की विशेषता यही थी कि वह श्रीमती सुनयना का था, शेष वही जो अन्य प्रेमपत्रों में हुआ करता है। मुझे ऐसा लगा कि इस पत्र को पढ़ती बेला मेरे मुख पर भी निश्चय ही श्री सुकान्त जैसी प्रसन्नता, परितोष आये होंगे और इसे जानने के लिए मैंने उसे दुबारा पढ़ने के पहले एक बार यह देख लेना आवश्यक समझा कि कहीं श्री सुकान्त लौट तो नहीं आया है? और इस बार अपने मुख पर प्रसन्नता देखने के लिए शीशे के सामने खड़े होकर पढ़ना आरम्भ किया किन्तु मुझे गहरी निराशा हुई कि अखबार की पढ़ी हुई खबर से जितनी प्रसन्नता होती है उतनी भी प्रसन्नता मेरे मुख पर नहीं थी और झल्लाकर उसे अपनी पत्नी के पत्रों के बंडल के नीचे दाब कर रख दिया।

दिन में कई बार आफिस में यह लोभ घिरा कि घर चलकर पत्र एक बार फिर पढ़ा जाए किन्तु अपनी इस भावुकता पर मैं स्वयं ही कई बार हँस दिया और मुझे प्रसन्नता हुई कि मैंने ऐसा कोई लड़कपन नहीं किया। साँझ जब नियमानुसार श्री सुकान्त मुझे काफी हाउस में मिला तो मैं देखना चाहता था कि कहीं उसे किसी प्रकार का संशय तो नहीं है। किन्तु मुझे प्रसन्नता थी कि नहीं मेरा मित्र अन्य दिनों की भाँति ही स्वस्थ एवं हँसमुख बना हुआ था और हम दोनों मित्रों ने नित्य की सी गहरी प्रसन्नता के साथ 'कपूर' में खाना खाया, ड्रिंक लिया और देर तक बातें कीं।

इस घटना के बाद मैं कुछ बातों में अनावश्यक ही आवाश्यकता से अधिक सतर्क हो गया हूँ, जैसे अपनी आल्मारी की ताली का ध्यान अब मुझे हमेशा रहता है। पहले की तरह नहीं कि बाथरूम गये तो वहीं छोड़ दी और फिर घर भर में ढूँढ़ा जा रहा है। आल्मारी का ताला

लगाने के बाद हैंडल घुमाकर पल्लों को झँझोड़-झँझोड़ कर देखा जाता है कि वे बन्द हैं या नहीं तथा डाक की बेला सतर्कता के साथ उदासीनता प्रदर्शित करना। वैसे अपने कृत्य से मुझे स्वयं भी पश्चात्ताप हुआ कि यह मित्रघात है, किन्तु मैंने इस भाव को उभरने ही नहीं दिया क्योंकि पश्चात्ताप को मैं मानसिक एवं धार्मिक कमजोरी समझता हूँ।

आज से पाँच दिन पूर्व की बात है, सहसा एक विचार कौंध गया। उस समय रात के बारह बजे थे। अभी-अभी श्री सुकान्त और मैं अपनी बातें समाप्त कर सोने की तैयारी कर रहे थे। श्री सुकान्त ने आज अपने एवं श्रीमती सुनयना की प्रेम चर्चा कितने विषाद रूप में सुनायी थी। यह नहीं कि मैंने ऐसी बातें कोई पहली बार सुनी थीं किन्तु घाव को खुजलाने में जो सहज आनन्द मिलता है वही मुझे श्री सुकान्त की बातों से मिला था। कितना मीठा होता है अभाव के दिनों में किसी के सुख की चर्चा में रसमग्न होना। साथ ही मैं श्री सुकान्त से ईर्ष्या भी अनुभव कर रहा था और विशेष कर तब, जब कि वह यह सब सुना कर दो मिनिट में सुख के खर्राटे भर रहा था।""हाँ तो, जो विचार कौंधा था और जिसे मैं सुनाना चाहता हूँ वह यह था कि क्यों न भोर जल्दी उठकर घूमने जाने के बहाने रास्ते में ही डाकिये से श्री सुकान्त का पत्र ले लिया जाए? यद्यपि इस विचार ने मुझे अपनी ही दृष्टि में इतना नीचे गिरा दिया कि मुझे अपने इस पतन पर घोर पश्चात्ताप रात भर होता रहा। भोर पाँच बजे लगा कि संकल्प-विकल्प में ही आज मैंने रतजगा किया था। आँखें जल रही थीं किन्तु मैं फिर भी उठा और श्री सुकान्त को दूसरे पलँग पर सोता छोड़ घूमने निकल पड़ा। मुँह-धरे में पूरा लाल बाग कुहरे में लिपटा पड़ा था। निर्जन सड़कें पार करता हुआ तथा हाथ की छड़ी घुमाता हुआ जिस समय मैं विक्टोरिया पार्क पहुँचा, ओस गिरनी बन्द नहीं हुई थी। हरी दूबें एक दम भीगी बिछली पड़ी थीं और मैं आई० टी० कालेज तक तेज कदम बढ़ाता हुआ पहुँच गया। मैं जानता था कि

मैं क्यों इतनी दूर घूमने आया था। लौटती बेला तक डाकिया अवश्य ही जा चुका होगा और मुझ जैसा संस्कारी व्यक्ति एक और बुरा कृत्य करने से बच जाएगा। किन्तु मैं यह भी जानता था कि निश्चित रूप से डाकिये से आज मुझे श्रीमती सुनयना का पत्र लेना है। और सच ही लाल बाग वाले गोल चौराहे पर डाकिये नें मुझे निःसंकोच हो श्री सुकान्त का पत्र थमा दिया। डाकिया पैडिल मारता हुआ सर्दी से ठिठुरी लाल नाक लिये दूसरी ओर तेजी से अपनी लाल साइकिल पर बढ़ गया। डाकिया जिस समय मुझे चौराहे पर दिखा था मैंने अवश्य ही उपेक्षा दिखलायी थी और मुझे ठीक स्मरण है कि मैंने दूसरी ओर मुँह भी फेरा था ताकि वह मुझे देख न सके। किन्तु उस दिन की भाँति आज भी मेरे ओवरकोट में श्रीमती सुनयना का वह पाखी मुट्ठियों में जकड़ा हुआ था। हम दोनों मित्रों ने निश्चिंत भाव से साथ-साथ चाय पी थी। मेरे टहलने पर श्री सुकान्त द्वारा मित्रवत् मजाक किये जाने पर हम दोनों खुलकर हँसे भी थे और सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि उस दिन डाक के विषय में मैंने श्री सुकान्त से पूछा था और उसने किंचित् म्लान होकर कहा भी था :

—"बिशन ! मालूम होता है कि आज डाक में कुछ नहीं आया।"

और श्री सुकान्त म्लान, खिन्न पोर्टफोलियो बगल में दाबे चला गया।

पहले दिन की अपेक्षा उस दिन मन एवं हाथ दोनों ही अधिक काँप रहे थे। वैसे ही दरवाजे बन्द कर पत्र खोला। किन्तु आज उस दिन की अपेक्षा और भी वह गहरी निराशा हुई। पति-पत्नी के बीच जो काम-काज वाला संबंध होता है, यह पत्र उसी से सम्बन्धित था—अरुणा के लिए फरवाला ऊन अवश्य लाना। अरुणा अपने पापा को बहुत याद करती है और अपनी गुड़िया को झूले में सुलाते हुए गाती है—पापा जी आएँगे, लाल खिलौना लाएँगे। लखनऊ के खिलौने प्रसिद्ध हैं जरूर लाइएगा। मालती भाभी के पास जैसी चिकन की साड़ी थी वैसी ही साड़ियाँ

लाना न भूलना। इन सबके लिए १५० रुपये भेजा जा रहा है। व्यर्थ के फिजूल खर्च के लिए नहीं आदि।—पत्र पूरा पढ़कर झल्लाकर उसे अलमारी में बन्द कर बिस्तरे पर लेटा-लेटा अपने इस कृत्य पर पश्चात्ताप करने लगा। ये पत्र मेरे लिए मात्र कुतूहल बनकर रह गये किन्तु श्री सुकान्त और श्रीमती सुनयना के बीच यह विश्वास है जिनके सहारे वे शेष जीवन के यात्रिक रहेंगे। मेरे कुतूहल की पूर्ति करने के बाद ये पत्र अब मर गये से हैं। अलमारी की धूल की पर्तों में श्रीमती सुनयना के ये विश्वासी सुन्दर अक्षरोंवाले पत्र अपनी चमकती स्याही के रंग, आकार एवं भावना की गंध भी खो देंगे। बन्दी बना कर दास भले ही ये पत्र हों किन्तु ये स्नेही नहीं हैं। नहीं ये पत्र मैं निश्चय ही लौटा दूँगा। और पता नहीं कब से कोई दरवाजे खड़खड़ा रहा था। मैं हड़बड़ा कर उठा और सोच रहा था कि नौकर को कोई अधिकार नहीं कि वह इतनी बद्तमीजी के साथ दरवाजे खड़खड़ाये। मैं उसे जरूर ही चाँटा मार कर सिखाऊँगा कि भद्रघरों में किस प्रकार काम करना चाहिए। किन्तु श्री सुकान्त को सहसा देखकर मैं आतंकित हो गया।

—"क्या सो रहे थे बिशन ? कब से दरवाजे खटखटा रहा हूँ।"

और एक चतुर व्यक्ति की भाँति अपने को स्वस्थ बनाने का प्रयास करते हुए सिर दर्द का बहाना बनाकर पुनः लेट गया। श्री सुकान्त ने बताया कि उसे अब तीन-चार दिन का ही काम शेष है। जहाँ तक आँकड़े एकत्र करने का प्रश्न है वह काज तो पूरा हो गया। अब तो वह बस बिशन के साथ लखनऊ घूमेगा और सुनयना तथा अरुणा के लिए कुछ खरीदेगा।

दूसरे दिन श्रीमती सुनयना का मनीआर्डर भी आ गया। पिछले तीन दिनों से हम दोनों मित्र खूब घूम रहे हैं। वैसे मैं श्री सुकान्त से प्रतिक्षण सतर्क रहता हूँ कि कहीं वह मेरे मनोभाव को पहचान न जाए। मेरा मित्र अत्यन्त सरल एवं निश्छल हृदय का व्यक्ति है और हम लोगों

के बीच में गहरे प्रेम का संबंध है। इन दिनों अपने मित्र की सच्चरित्रता ने मुझ पर गहरा प्रभाव किया तथा यह कहते मुझे प्रसन्नता है कि मेरे अच्छे संस्कार पुनः जाग्रत हो गये हैं। मैंने अब हमेशा के लिए निश्चय कर लिया है कि मैं भविष्य में कभी भी ऐसा कृत्य नहीं करूँगा जो कि मात्र अभद्र ही नहीं, अशोभनीय ही नहीं किन्तु नीचतापूर्ण भी है। पिछले दिनों मेरा मात्र पतन ही नहीं हुआ था, अपने पतन को छुपाने की कला में भी मैं सिद्धहस्त हो चला था। किन्तु मुझे गर्व है कि मेरी नसों में जोभद्रवंश का संस्कारी रक्त प्रवाहित है उसने फिर वही चरित्र की गरिमा, उच्चता प्राप्त कर ली है और मुझे यह कहने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं कि मैं श्री सुकान्त जैसे सच्चरित्र मित्र का सच्चरित्र मित्र हूँ। क्षणिक पतन को पतन नहीं कहा जा सकता है।

आज सांझ श्री सुकान्त चला जाएगा। मुझे इसकी प्रसन्नता है कि श्री सुकान्त के चले जाने के बाद उन दो पत्रों को तथा आज का यह पत्र जिसे मैंने अभी चुराया है इन सब को शांति के साथ पढ़ूँगा। मैं जानता हूँ कि कल मेरे संस्कारी व्यक्ति ने सच्चरित्रता का दावा किया था। आज जो मैंने यह पत्र चुराया है यह केवल आवेश है। अपने मित्र के जाने पर भले ही आवेश में मैं प्रसन्न हो रहा हूँ किन्तु निश्चय ही मुझे उसके जाने का दुःख होगा। कारण कि हम एक दूसरे को अत्यधिक प्रेम करते हैं। आवेश जब नहीं रहेगा तब मित्र-दुःख होगा। कल जब मैं फिर पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसूँगा तब क्या आज की भाँति मित्र के जाने पर प्रसन्न हो सकूँगा? खैर आज मैंने श्रीमती सुनयना का पत्र किस प्रकार चुराया यह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं बल्कि मुख्य यह है कि आज के पत्र के बाद फिर मुझे श्रीमती सुनयना के पत्र चोरी से पढ़ने को नहीं मिलेंगे। मैंने आज श्री सुकान्त के लिए आफिस से छुट्टी ले ली थी किन्तु पत्र पढ़ने की उत्सुकता एवं क्षोभ के कारण जरूरी काम का बहाना बनाकर दोपहर तक के लिए आफिस आ गया हूँ। अपने

आफिसवाले कमरे की दोनों खिड़कियाँ खोलकर बाहर झाँकते हुए हजरतगंज की सुषमा देख रहा हूँ। कुहरे ढँकी गंज की टिपटाप सड़क और अट्टालिकाएँ व्यस्त होने की चेष्टा कर रही हैं। व्यस्त स्त्री-पुरुष और चमचमाती मोटरें तथा उनके हार्न। दूरी पर लाल बाग के चर्च का क्लाक टावर और गंज इस बेला सद्यःस्नाता सुखी पत्नी की भाँति खिला सा लग रहा है। अभी आफिस शुरू होने में आधा घंटा है और मैं खिड़की की राह आती हुई धूप की ऊनी छाँह में रेस्ट-चेयर पर अधलेटा श्रीमती सुनयना का पत्र पढ़ रहा हूँ। आज मुझे निराशा ही नहीं बल्कि अत्यन्त ग्लानि और भयंकर असन्तोष घिर आया है। ये पत्र मेरे विधुर मन को संतोष नहीं दे सकते। श्रीमती सुनयना मेरे मित्र की पत्नी है। इन पत्रों में निहित स्नेह मेरे लिए नहीं वरन् मेरे मित्र श्री सुकान्त के लिए है। दूसरे के पत्र पढ़ना नीचता है और मुझ जैसा संस्कारी चाहे और कुछ भले ही हो नीच तो नहीं ही है।

आज मेरा मित्र बिदा हो रहा है। काफी में मुझे वर्षों बाद स्वाद एवं गंध दोनों ही ताजा लग रही हैं। सामने खिले फूल की तरह श्री सुकान्त की आँखों में मैं मैत्री की अगाध एवं प्रसन्न चमक देख रहा हूँ। सरल मन की एक परछाँई होती है। और मेरा मित्र इसका उदाहरण है। थोड़ी देर बाद मेरा मन भी ऐसा ही सरल हो जाएगा। क्योंकि मैंने अपने कृत्य का प्रायश्चित्त करने का निश्चय कर लिया है मेरी अन्दर की जेब में श्रीमती सुनयना के तीनों पत्र रखे हुए हैं और जिन्हें मैं श्री सुकान्त को लौटा देने के लिए लाया हूँ। मेरा कुलीन रक्त यह सहन नहीं कर सकता कि मैं ऐसी नीचताएँ बार-बार करूँ। यह ठीक है कि मेरे इस कृत्य को जब मेरा मित्र जानेगा तो उसे घोर आश्चर्य होगा। हो सकता है, नहीं बल्कि निश्चय ही वह मुझे नीच समझेगा किन्तु साथ ही वह अपनी उदारता में मुझे पुनः वैसे ही विश्वासी मित्र समझेगा। और सही बात यह है कि श्री सुकान्त चाहे जो भी समझे मैं अपनी संस्कारी आत्मा

पर यह बोझ अब सहन नहीं कर सकता । श्रीमती सुनयना के तीनों पत्र मेरे सीने के पास मेरी साँसों के साथ ऊपर नीचे होते हुए लग रहे हैं। जब ये तीनों पत्र मेरी जेब की अपेक्षा मेरे मित्र की जेब में होंगे तब इन पत्रों को, मेरे मित्र श्री सुकान्त को तथा श्री बिशन नारायन अर्थात् मुझे, सबको कितनी प्रसन्नता होगी । और इस प्रसन्नता को पाने के लिए मैं काफी के समाप्त होने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

—"बिशन ! अच्छा मित्र पाना अच्छी पत्नी पाने से भी बड़ा सौभाग्य है।"

श्री सुकान्त के लिए मेरे मन में कितनी ममता एक साथ घिर आयी है इसे यह मेरा मित्र नहीं समझ सकेगा। सच, अच्छा मित्र पाना सौभाग्य है।

—"हाँ सुकान्त ! तुम्हारे जैसा सुशील मित्र वरदान से क्या कम है ? यह मेरा परम सौभाग्य है।"

—"बिशन ! कई बार मैंने सोचा और इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि मैत्री या दाम्पत्य सबका आधार है विश्वास । यदि यह विश्वास न रहे तो........"

श्री सुकान्त जिस विश्वास की चर्चा करना चाहता है मैं उसे समझता हूँ किन्तु मैं उसे अवसर ही नहीं दूँगा कि उसका जो विश्वास मुझ पर से उठ गया है उसे वह हमेशा के लिए उठा ले।

—"बिशन ! मनुष्य भूल करता है किन्तु उसे सुधारना भी उसी के चरित्र की महानता है।"

—"सुनो सुकान्त ! मैं जानता हूँ तुम क्या कहना चाहते हो । मैं जानता हूँ कि इस प्रकार विश्वास का उठ जाना सहज है, साथ ही यह भी सही है कि हम ही उसे फिर से स्थापित भी करते हैं । मुझे स्वयं लज्जा है, कई दिनों से मैं स्वयं कहना चाहता था। जानता हूँ तुम्हें ठेस लगेगी सुनकर किन्तु हमारे इतने वर्षों की मैत्री मैं नहीं चाहता कि छोटी-छोटी भूलों के कारण कच्चा सूत सिद्ध हो।"

—"बिशन ! मुझे अधिक लज्जित न करो। तुम्हारे हृदय की विशालता मैं जानता हूँ। इसके प्रमाण में मुझे और कुछ नहीं चाहिए। तुम मुझे क्षमा करोगे यह मैं जानता हूँ और इसीलिए साहस भी हो रहा है। जो मैं विगत सात वर्षों से कह नहीं पाया उसे आज कहना चाहूँगा। तुम एक बार काशी आये थे एक माह के लिए। तब मालती भाभी के पंत्रो में से मैंने एक पत्र चुराया था उसे आज मैं लौटा रहा हूँ, बिशन......मैं नीच हूँ..............."

—"क्या ? सुकान्त ! मालती का पत्र ?"

—"बिशन ! क्षमा कर दो तुम्हारे जैसा उदार व्यक्ति........"

—"सुनो सुकान्त........"

—"नहीं बिशन......."

तथापि

तथापि

विपिन की ओर से—

लगते आषाढ़ की साँझ अतिरिक्त लला उठी थी और जिसके साक्षी रूप में क्षितिज पर्यन्ता गंगा कगार काटती बिछी थी। विपिन कभी प्रयाग में था, आज नहीं तो क्या हुआ, था तो? प्रकाशक, लेखक एवं निन्दकों से भरे इस साहित्यिक नगर में सहज मनुष्य भी रहते हैं यह उसने तभी जाना था जब उसका परिचय स्टेनली रोड के राय-परिवार से मुकुल ने करवाया था। मुकुल 'बुक काटेज' में मैनेजर हैं। विपिन एक दिन काटेज की शेल्फों में 'बलाका' खोज रहा था जिसे उसने मुकुल की सहायता से पाया था और तभी से दोनों में प्रगाढ़ आया। राय-परिवार से मुकुल ने विपिन का परिचय कब, कितने दिनों बाद एवं किन परिस्थितियों में करवाया यह सब अनावश्यक है, जो आवश्यक है वह यही कि विपिन पारुल के निकट आ गया था। राय परिवार की पारुल शान्त एवं स्वप्न-निष्ठा है, जिसे अतिरिक्त भी कहा जा सकता है। इस परिचय के उपरान्त उसे प्रयाग से जाना पड़ा था—और कहाँ-कहाँ नहीं!! तथापि वह नियमित अन्तराल से आता जाता रहा—कदाचित् आगे भी।

जब वह रेलवे स्टेशन पर सुपरिचित सिविल लाइन के फाटक से बाहर निकला तो पहला प्रश्न सामने आया कि दो दिनों का मेहमान बनने के लिए पहले मुकुल के पास जाए अथवा पारुल को पहले मिलता जाए। इसी उधेड़बुन में रिक्शेवाले को बिना खास पता दिये वह चला जा रहा था। सहसा उसने पाया कि उसका चश्मा कहीं छूट गया है। रिक्शेवाले ने याद कराया कि उस मोड़ तक तो था जहाँ सिगरेटें खरीदी गयी थीं। भीगी दूबों में जब चश्मा खोजा जा रहा था तब झींगुर झन्ना रहे थे।

अब वह चश्मा पहन कर भी निर्णय नहीं कर पा रहा था कि पहले मुकुल अथवा पारुल ?? इतनी रात में पारुल क्या सोचेगी ? चाहे वह न भी सोचे किन्तु घर के अन्यजन ? विपिन ने स्टेनली रोड की पुलिस लाइन के सामने अपने को अन्तिम निर्णय के लिए तैयार कर लिया था। क्योंकि सिर पर बादलों की गड़गड़ाहट लिए रिक्शा कुछ ही क्षणों में पारुल के बँगले के सामने से गुजर जाएगा—और बिचारे रिक्शेवाले को क्या मालूम हो पाएगा कि उक्त बँगले के सामने धीमा हो जाए, ताकि यह अनिर्णीत मन का यात्री कदाचित् यहाँ उतर ही जाए। किन्तु विपिन ने निर्णय ले ही लिया था। पारुल को सूचित करता हुआ हो जाएगा कि वह आ गया है, उसे पारुल से आवश्यक कहना है और कल साँझ जब वह कहेगी तब विस्तृत होकर आएगा। इस बार प्रयाग में उसे दूसरा कुछ नहीं करना है।

जिस बेला उसने पारुल के घर की साँकल कूटी, मेघ हल्के रिस रहे थे। बाहरी फाटक के पास रिक्शे की चिमनी तथा रिक्शेवाले की बीड़ी अँधेरे में चमक रही थी। उस विशाल अहाते के अन्य घरों से चीखना चिल्लाना आ रहा था। पारुल के आँगन के पके कटहल ने दीवार पार से ही झाँकते हुए पता नहीं कैसा-कैसा किया।

—"कौन ?"

आलाप लेता पारुल कण्ठ फूटा।

—"मैं !!"

विपिन ने अपने को "मैं" बनाते हुए कहा। विपिन ने जैसे अपने को "मैं" बना ही तो लिया था। आँगन के ईंटपथ पर चट्टियाँ सट्-सट् कर उठी थीं, किन्तु पल्ले एकदम ही नहीं खोले गये थे। एक बार फिर आश्वस्तता के हेतु "मैं" की व्यक्तिवाचिता पूछी गयी थी और हठात्—"अरे आप !!" का आश्चर्य। उपरान्त स्वागत हुआ था। भीगे ईंटपथ के दोनों ओर क्यारियों में ऊदे नीले कर्णफूल से झूम रहे थे। दोपहर की फैलायी गयी शान्तिपुरी तार पर दुबारा सूखने की प्रतीक्षा में फैली थी। केल, फलवती होकर कोने में दुबकी

मौन थी। रजनीगंधा को ऐसी कुबेला में—जब कि परिवार के अन्य उत्तरपाड़ा गये हों—आगन्तुक का आना सुहाया नहीं। विभिन्न गन्धों भरा छोटा सा आँगन बरामदे की बत्ती में तह किये कपड़े सा बिछा था। चौकी से 'आनन्द बाजार पत्रिका' हटाते हुए—"बोशुन" आदेश को विपिन सहसा नहीं समझ सका कि यह अभिधा है अथवा व्यंजना। अन्दर के कमरे में तानपूरा रखते हुए पारुल ने पूछा :

—"सहसा कहाँ से विपिन बाबू !"

—"काशी से"

—"कब आये ?"

—"अभी आया नहीं पूरा, सामान लिये रिक्शा फाटक पर मेरी बाट में है।"

—"सच ?? तो लिवा लाइए ना, क्या यह भी कहना होगा ?"

—"माँ कहाँ हैं ?"

—"उत्तरपाड़े से बड़दा आये थे। माँ को कलकत्ते लिवा ले गये हैं, शायद आपरेशन होगा।"

—"और टिल्लू ?"

विपिन जानता था कि पारुल की छोटी बहिन टिल्लू शुरू से ही बड़दा के पास रहती है, और अब तो धीरे-धीरे समूचा राय परिवार ही कलकत्ते के अपने क्लाइवरो वाले 'वृन्दा धाम' में पहुँच गया था। यहाँ तो अब पारुल ही शेष थी, जो स्थानीय 'बंग महिला समाज' में संगीत अध्यापती है।

—"ये सब तो पीछे पूछ लीजिएगा, मुकुल के यहाँ न उतरिएगा ?"

—"हाँ, भला यहाँ कैसे"

—"सो तो है ही, लेकिन इन ठण्डे कपड़ों में जड़िया नहीं जाइएगा ?"

—"नहीं पारुल ! अभी सीधे मुकुल के यहाँ ही जा रहा हूँ, यही कहने आया था कि अब चलूँ, कल कब मिलना होगा ?"

विपिन उठते हुए बोला।

—"आप जाइएगा भी, कल मिलना भी होगा, किन्तु यों तो अभी जाना नहीं हो सकेगा। किसी होटल की चाय के स्थान पर यहाँ से पीकर जाना वैसा बुरा नहीं होगा।"

और ईंट की झझरियों वाले खाबारघरके पीछे से चाय की खटर पटर सुनायी दी। हवा से झकझोरित पेड़ों द्वारा गिरायी गयी बूँदों से भीगते जब मुकुल को उसने खटखटाया तब दस बज कर पच्चीस मिनट हो चुके थे।

तीसरे पहर जब विपिन वहाँ पहुँचा तो पारुल का मुख तँबिया रहा था। बहिरे से तभी लौटी थी और कदाचित् पसीना सुखाया जा रहा था। कल जब वह चलने लगा था तो पारुल ने दरवाजा छेंकते हुए आग्रह किया था कि उसे ऐसा क्या कहना है, वह क्या है जो आवश्यक है, अभी ही क्यों नहीं कह दिया जाता ? कदाचित् इसीलिए तीसरे पहर की यह मीटिंग गम्भीर हुई जा रही थी। बड़े भँवरे की भाँति टेबलफोन गुन्ना रहा था। दाहिने हाथ की छोटी खिड़की से पका कटहल, दूसरे की बातें सुननेवाले व्यक्ति की भाँति लग रहा था। विपिन आज बहुत कुछ कहने आया था किन्तु वह वृत्त के सूत्र को नहीं पकड़ पा रहा था कि जहाँ से आरम्भ किया जा सके। कारण कि वह जानता था कि आज तक के ही नहीं वरन इस क्षण तक के 'विपिन बाबू भी भला ऐसी बातें कह सकते थे ?'—पारुल यही न सोचेगी ? परन्तु क्या ऐसी बात है यह कि जिसे पारुल ने स्वयं भी कभी न सोचा होगा ? क्या वह ऐसी निस्पृह है ?

—"पारुल ! मैं जानता हूँ कि ऐसी बातें यों नहीं कही जाती हैं और फिर इस प्रकार...."

—"आप क्या कहना चाहते है विपिन बाबू ! पहेलियाँ न बूझिए। देखिए रात सो न सकी हूँ, और आज क्लास में भी तीव्र मध्यम के स्थान पर शुद्ध मध्यम बताकर हँसी करवा चुकी हूँ।"

—"पता नहीं तुम क्या सोचो, किन्तु कहना मेरे लिए आवश्यक है पारू ! लेकिन यदि तुम इस प्रकार सुनोगी तो मुझे लगेगा कि मैंने कहकर भारी भूल की।"

—"नहीं हँसी नहीं कर रही विपिन बाबू !"

—"पारू ! मैं·······मैं·······मुझे बहुत पूर्व ही स्पष्ट कर देना चाहिए था। मैं तुम्हें······"

और पारुल सिर झुकाये नाखूनों से कुर्सी का वार्निश खुरचते हुए अपने में सन्तुष्ट मुर्गी सी आत्मस्थ बनी थी। पीठ पर के फैले बालों में से दो-चार मुँह के पास लहराते हुए तिरस्करणी बनाये थे।

—"बोलो पारू। मैंने कहकर भूल की है ना, पारू ! पारू !!"

और विपिन ने देखा कि पारुलनयन रँगे हुए सहसा क्षण भर कहीं खो गये, अपने में ही, अदेखे से। माथे पर बूँदें झलमला गयीं। क्या यह वही पारुल है जिसे उसने मन-ही-मन आत्मीय स्वीकारा था ? किसी को आत्मीय स्वीकारने पर वेदना ही होती है ? पारुल-परिवार ने बिना उसका नाम पूछे ही सहज ले लिया था। जहाँ चाहते हुए भी अधिक नहीं जा पाता था। कई बार द्वार से ही लौट आया है, तो कई बार सड़क के उस मोड़ से ही लौट आया है कि जहाँ से पारुल का घर दिखायी पड़ता था। स्वयं को ही इस विषय में वह समझा नहीं पाता था कि क्यों नहीं वह नियमित जाता ? अन्दर आते समय भी धड़कते दिल से फाटक बन्द किया जाता जैसे वह कोई चोरी करने आया हो। 'कोई क्या कहेगा यदि इस प्रकार हमेशा आते देखे तो ?' जैसे लोगों का कहना अपने में बहुत महत् सत्य रखता हो। विपिन को इस क्षण ऐसे कथनों की क्षुद्रता दिखलायी दी। वह तब भी जानता कि पारुल के निकट अधिक समय जाने का अर्थ होगा···सब कुछ सम्भव। और आज यह सब सुन कर तब क्या यही पारुल इतनी निस्पृह बनी रह सकती थी ?

—"पारू, मैंने ही भूल की। बिना किसी समय-नैकट्य की भूमिका के इस प्रकार का कथन मात्र प्रलाप समझा जाएगा। क्षमा करना पारूल !"

विपिन के उठने के पूर्व ही पारूल उठ गयी और भीतर चली गयी।

इस जाने को विपिन क्या समझे ? क्या यह कि—'जी आपकी बात का यही उत्तर है।' अथवा यह कि—'आप बैठें तो.......'

और विपिन बाबू अपनी बात में यह तक भूल गये कि कुमारी पारूल राय का आतिथ्य कहावत की सीमा का था।

उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही चाय एवं मिष्टी टेबल पर रख दिये गये थे।

—"आप तो एक ही चम्मच न लेते हैं ?"

एक कप अपने लिए बनाते हुए बोली :

—"आप में तो किंचित परिवर्तन हुआ नहीं देखती हूँ।"

—"जैसे !!"

—"यही कि हर बात को जब तक नहीं कहा जाए तब तक..."

और विपिन ने कप ओठों से लगाया।

—"जानते हैं विपिन बाबू ! बंगाली बनने की एक ही शर्त है।"

—"सन्देश खाना, है न ?"

—"आपको तो फार्मूला भी याद है।"

—"तुम नहीं खाओगी ?"

—"यही तो पुरुषों में दोष होता है कि वे सभी बातों में स्त्री को भी पुरुषवत् आचरण करते देखना चाहते हैं।"

—"मैं समझा नहीं पारू ! क्या मिठाई...."

—"हाँ मिठाई भी.......और यही कि जो बात आपने अभी थोड़े पूर्व कितने सहज रूप से कही थी और उसी सहज भाव से उत्तर भी चाहा था।"

—"तो क्या ?"

—"आपमें यह सहज उदारता है विपिनबाबू ! भला भूल कैसी ? मैं तो यह सोच रही हूँ कि इसे सौभाग्य कहूँ अथवा दुर्भाग्य ? नहीं विपिनबाबू ! सहजता से तो दुर्भाग्य ही मिलता है, सौभाग्य के लिए क्या कुछ न करना होता है । मैं जानती थी, सब जानती, आरम्भ से ही जाती थी, क्योंकि आकर्षण फेन की भाँति तिर आता है ऊपर, और उस तिरे फेन को फिर किसी घाट तो लगना ही होता है । झूठ है विपिन बाबू ?"

बेला झुक आयी थी । क्लर्कों का रेला बह गया था और सड़कें फिर से आश्वस्त हो धुल पुछ गयी थीं । सड़कें उलांघते, खेत फलाँगते पारुल एवं विपिन गंगा किनारे चले जा रहे थे । बाँये हाथ, कोण में द्रौपदी घाट पर बड़ी नाव का मस्तूल आकाश में उग आया था । रह-रहकर कच्ची कगारें गंगा में टूट-टूटकर गिरते 'छप' बोल जातीं । आकाश इस झलफल वेला में रोरिक के चित्र सा लग रहा था । दाहिने, फाफामऊ पुल से दूर इंजिन का काला धुँआ उठ रहा था ।

—"पारू ! याद है, गंज में एक बार दुर्गापूजा पर हम सहसा मिले गये थे ।"

—"हाँ, किन्तु इतने दिनों बाद उसकी अनुगूँज ! !"

विपिन कुहनियों के बल चित्त लेटा दूब नोच रहा था । पारुल, क्षितिज में प्रतिमा सी खिंच आयी थी । उसके जूड़े में आकर एक सोने का मेघफूल लग गया था ।

—"क्या सोच रही हो पारू !"

विपिन ने देखा कि हरी दूबों में पारुल के लाल जूते खरगोशों से दुबके थे ।

—"विपिन बाबू ! क्या हो सकता है अब ? द्वारे आये सौभाग्य को भी लौटाना ही होगा । यही होता है, सब समाप्त हो जाता है ।"

—"पारू !!"

और विपिन ने उसका हाथ पकड़कर उसे भी बैठाल लिया। आवेश में दृष्टि पैनी हो जाती है, नाक तीखी और ओठ थरथरा जाते हैं।

—"निश्चय ही आपकी बात बिना भूमिका के है, किन्तु असंगत नहीं। कहिए क्या उत्तर दूँ ? जानते हैं वाग्दत्ताके लिए सारी गतियाँ मर चुकी होती हैं, मेरे लिए भी विपिन बाबू ! मेरे लिए भी। आपके इस सोने से सत्य की मात्र पूजा कर सकती हूँ, किन्तु क्या किसी भी दिन अपने इस तन पर धर सकूँगी ? विपिन ! तुमने आज अनजाने ही मेरी नारी को जाने कैसी लज्जा दे दी, मन तक सजा दिया। तथापि''''"

फिर वही बुलबुले बोल रहे हैं।

—"चाहा था, सम्पूर्ण स्वत्व से चाहा था विपिन ! गंज में वह चौधरी की दूकान के पास, बाद में भाभी ने मजाक भी किया था किन्तु विपिन बाबू ! हम अनागत बनकर ही रह सकते हैं, विगत कदापि नहीं ! कदापि नहीं !! और वर्तमान तो असंगति की खोखल है, निष्प्रयोजनहीन ! !"

—बुलबुले ऊबचूब करे रहे हैं भँवर आ जाने के कारण।

—"आश्वस्त होओ पारू। तुमने जब स्वयं एक बन्धन वरा है उसे तुम तोड़ फेंको यह तो कह सकता हूँ परन्तु उसके लिए बाध्य नहीं कर सकता, कारण कि ऐसी बाध्यता कभी विद्रोह भी कर सकती है। चलो पारू ! हम न तो आज के पूर्व कभी थे ही, न हैं ही कारण कि हमें तो होना है। यह होना ही हमारी संगति है, शृंखला है।

—"कदाचित्।"

किसी मन्दिर के शंख घड़ियाल सुनायी पड़ रहे थे और संग में कुत्ते भी।

'बुक काटेज' में बैठा हुआ विपिन समय काट रहा था। आज उसे लौट जाना था। कल पारुल से भी यही कहा था, किन्तु मुकुल ने व्यर्थ

ही रोक लिया था। पारुल को इसकी सूचना दे या न दे वह इसी उलझन में था कि मुकुल ने बताया, पारुल का फोन आया है।

—"हाँ, पारुल ! रुक जाना पड़ा, तुम्हारे स्टेशन न आने की बात तो पहले ही तय थी और अब तो मैं हो........ ।"

वह आज नहीं गया इसीलिए इस बेला फिर पारुल-द्वार लगी उसकी नेमप्लेट बाँचता खड़ा है।

आज दोनों को ही ठीक ऐसी ही लाज थी जैसी कि दो के मन जब प्रतिअनावृत हो जाते हैं और तब जो होता है। तटस्थता, खिंचाव में परिणत होती है। आज दोनों में ही एक दूसरे के लिए कुछ कट गया था, खो गया था और जिसे वे अपने में खोजते बैठे रहे। आज उनके बीच बोलने के लिए कुछ भी तो शेष नहीं था और जो शेष था वह था-सौजन्य !!

—"कोई विशेष काज आ गया जो नहीं जा सके ?"

—"नहीं, विशेष तो कुछ नहीं, पर चला ही जाना चाहिए था"

—"क्या कल नहीं ठहर सकते"

—"शायद, शायद नहीं, क्यों ?

—"ऐसे ही, किन्तु आज आप को चला ही जाना चाहिए था।"

और उठकर पारुल जाने को हुई कि विपिन ने टोका :

—"पारुल ! अब चाय की व्यावहारिकता रहने दो। विश्वास रखो कि आज कोई ऐसी बात नहीं होगी। केवल एक बात और पूछना है तथा जिसका उत्तर दो ही, ऐसा आग्रह चाहते हुए भी नहीं करूँगा।"

और पारुल की गुड़हल आँखों में अव्यक्त विवशता रँग उठा।

—"बात पूछने के पूर्व एक बात और बतानी होगी कि क्या तुम कल और आज रोती रही हो ?"

और विपिन उसे रोके उसके पूर्व ही वह उठ गयी। सूजी हुई आँखों को धोकर वह अन्यमनस्क सी लौट आयी है।

—"पारू ! तुम अपनी ओर से कल सब प्रवाहित कर चुकी हो। तुम असंपृक्त, तुम्हें क्या कहूँ और क्यों ? किन्तु पारू ! तुम्हारी विवशता का कोई कारण नहीं है ! तुम्हें तुम्हारा मिथ्यात्व घेरे है। पटल के चिर नैकट्य को भी नहीं छोड़ सकती और विपिन से कहती हो कि 'मेरा यह भाग्य कि तुमने मुझे चाहा।' कुछ नहीं पारू ! यह अपने प्रति तुम्हारा छल है साथ ही दूसरों के प्रति भी।"

अँजुलियों में मुँह लुका वह फूट पड़ी है।

—"सच मानो मैं आज ऐसी बात नहीं कहना चाहता था पर........"

विपिन ने आवेश में अपनी दोनों हथेलियों में पारुल की अँजुलियाँ समेट लीं।

—"मुझे तुम्हें पाना ही होगा पारू ! "

और यह कहता हुआ विपिन पर्दा ठेलता हुआ बाहर निकला। पारुल कहती ही रही ;

—"नहीं, ऐसा नहीं हो सकेगा विपिन बाबू ! सुनिए!"

लेकिन पारुल का 'सुनिए' सेतु नहीं बन सका।

पारुल की ओर से—

पिछली बार जेठ में जब विपिन आया था, तब भी सहसा ही आया था और तब वह उमसती पसीने-पसीने पहुँची थी। सहसा पारू को देखकर विपिनबाबू को आश्चर्य होगा यह जानती थी, और हुआ भी वही। प्रसन्न जलभरी आँखों से विपिन ने पारुल देखी थी और संतोष की झाँईवाले नयनों से पारुल ने विपिन निहारा था। दोनों के कण्ठ भर आये थे। तब पारुल ने ही वस्तुस्थिति सम्हाली थी :

—"अभी तुरन्त कलकत्ते से लौटी हूँ। जाकर कपड़े बदल सीधे कालेज जाना है,····।"

और आज साँझ वह सीधे घर ही लौटी थी क्योंकि उसे नवद्वीप से आये गौड़ीय संकीर्तन समाज का कीर्तन सुनने जाना है। जिस बेला वह नित्य का रियाज कर रही थी तभी उसने दो एक बार हौले से साँकल सुनी शायद हवा से बज उठी हो या फिर पड़ोसी के किसी शैतान बच्चे ने बजायी हो।····नहीं "पारुल जी" की परिचित डाक जो सुनायी दी। ऐसे तो विपिनबाबू ही डाकते रहे हैं। तारों पर झटके से हथेलियाँ रख पुकारना सुना। यह तो निश्चित ही विपिनबाबू ही हैं, किन्तु इस कुबेला ? कहाँ से ? तभी न पल्ले खोलने के पहले पूछा गया था;
—"कौन ?"
—"मैं !"

उत्तर में जब पारुल ने "मैं" सुना तो बरबस मन हँस पड़ा कि वाह रे "मैं", जैसे इनके अलावा अन्य कोई "मैं" हो ही नहीं सकता। इन विपिनबाबू को पता नहीं कब औचित्य आएगा। और आएगा भी कि नहीं क्या जाने। पारुल को अच्छा लगा कि उतरते जेठ के बाद लगते आषाढ़, इतने जल्द फिर विपिनबाबू आये। लेकिन पड़ोसी यदि जान जायें कि इत्ती रात में रायबाड़ी में कोई है, तो ?

'आनन्द बाजार पत्रिका' हटाते हुए—'बोशुन' कह वह तानपूरा रखने चली गयी। दबी दृष्टि से ही समझ गयी कि अभी सीधे ट्रेन से चले आ रहे हैं। एकदम सीधे बिना कहीं टिके यहाँ आने का प्रयोजन ? क्या इस बार रुकेंगे नहीं ? किन्तु परेशान क्यों हैं ? टिल्लु के बारे में क्यों पूछ रहे हैं ? जैसे जानते न हों कि वह बड़दा के पास नहीं रहती ? ये आज ऐसे क्यों हैं ?

जरा सा ठहरने के बारे में पूछा नहीं कि किस उतावली से उठ खड़े हुए। क्या ये नहीं जानते कि बिना मुँह जूठा किये कभी यहाँ से

जाना हुआ है ? और ऐसे ही चले गये तो पारुल को बड़ा पुण्यलाभ होगा न ! इन्हें न तो स्वयं ही कुछ मालूम है और लाख तोते की भाँति पढ़ा भी दो तो क्या, कल देख लेना फिर वही अपने मिट्टी के माधो। किन्तु वह भी कैसी है कि माँ के जाते ही क्या मजाल जो घर में कुछ भी खाने का रखा रहे। बस, एक कप चाय पिला कर ही तो भेजना होगा। वह भली प्रकार जानती है कि इन महाशय ने रास्ते में क्या कुछ खाया होगा। हर स्टेशनपर सोचा होगा कि यह खा लिया जाए, वह खा लिया जाए—और पुकारना गले में फँसा का फँसा लिए पूरी यात्रा कर डालनेवाला व्यक्ति जिसके मत्थे भी पड़ेगा—किन्तु यदि उसके मत्थे ही पड़ने को हों तो !! क्या वह स्वीकार न लेगी ? छोड़ो।

आज नहीं कल विस्तृत होकर आएँगे तभी कहेंगे—आवश्यक कहना है। दरवाजा छेंककर भी पूछा पर चले गये। पल्ले बन्द कर टूटी सी बिस्तरे लौटी। जहाँ विपिन बाबू बैठे थे चादर में सलवटें भर उठी थीं, गहरी हथेलियाँ फेर सल तोड़ कुहनी के बल लेट गयी।

उसे ज्ञात है कि क्या कहने वाले हैं। जिस बात की उसे प्रतीक्षा थी वही न कहेंगे ? पिछली बार जेठ में जब आये तब माँ से कैसे खुल गये थे, अचानक ही। माँ ने भी कैसी भेदभरी दृष्टि से देखा था उसकी ओर, वह तो अच्छा हुआ कि वह पान लाने उठ गयी थी। यह भी कोई बात हुई—कहाँ तो मुँह में जीभ ही नहीं और कहाँ एकदम जामाई बाबू के जैसे''''वाहरे विपिन बाबू !! उस बार भी पारुल डर रही थी कि विपिन बाबू अवश्य ही उससे कुछ कहेंगे, किन्तु फिर वही चुप्पी। जब कि इसके विपरीत पटल पिछले पखवारे गोहाटी से ज्वाइन करके आया और माँ, बड़दा तथा उससे सब कुछ कह गया।

पानी तिरछा था, बरामदे में बौछार आ रही थी। चादर का एक सिरा हल्के भीज गया था तथा उसका जूड़ा फुहारों से भर उठा था।

कुहनी गद्दे में गड़ी-गड़ी सुन्न हो गयी थी। चौंककर जब स्वस्थ हुई तो देखा कि वास्तव के विपिनबाबू को गये तो दो घण्टे हो गये हैं। पीढ़ा समेट, चीजें बटोर खम्भे से सटो खड़ी रही। जाने कहाँ से विपिनबाबू की एक बात कौंध गयी;

—"पारुल ! मुझे ढँका सिर ही सुहाता है।"

और बत्ती बुता भीगते अँधेरे में अनजाने ही दूसरे हाथ ने चूड़ियाँ खनकाते हुए पारुल का सिर ढँक दिया।

पंखे के सामने बैठ वह जूड़ा खोले पसीना सुखा रही थी। मुँह धो चुकी थी किन्तु मुँह फिर भी तँबिया रहा था। रात रतजगा किया था इसलिए पलकें और भी भारी हो आयी थीं। आज क्लास में भी तीव्र मध्यम के स्थान पर शुद्ध मध्यम बताकर हँसी भी करवा चुकी थी। दिन, फटे दूध सा दिनभर लगता रहा। यदि सामाजिकता एवं औचित्य का ध्यान न होता तो सवेरे ही विपिनबाबू से मिल आती जैसे कि पिछली बार किया था।

कैसे गुमसुम हो उसी स्थान पर, अपनी सुपरिचित मुद्रा में मुट्ठी पर ठोड़ी टिका आकर बैठ गये। उसने दबे से विपिन बाबू को पूरा बाँच लिया था कि····किन्तु इनका क्या ठीक ? ? ये कहते हैं, इनकी बातों पर गंभीर होने के स्थान पर हँसी कर रही हूँ—ना बाबा ! भले ही इन्हें वह प्राप्त न कर सके किन्तु इन पर हँसा जा सकता है ?

—"पारू ! मैं····मैं····मुझे बहुत पूर्व ही स्पष्ट कर देना चाहिए था कि मैं ···· तुम्हें ···· किन्तु विपिनबाबू ! कैसे स्पष्ट किया जा सकता था ? आपका दुस्साहस ही है जो इतना भी कह गये। माना कि पारुल पर आपका अत्यधिक विश्वास है, तथापि विपिनबाबू ! दो के बीच विश्वास को वटवृक्ष बनने में कितने मेघ सींचे जाते हैं मालूम है ? और क्या ऐसा होने दिया गया ? मुकुल के साथ उस दिन पहली भेंट हुई। उसके

बाद फिर अनायास ही 'कोरल क्लब' के पास मिल गये थे। गिनिए विपिनबाबू ! एक हाथ की अँगुलियों पर आपका आना गिना जा सकता है। पारुल को तो यही लगा था कि विपिनबाबू उसके प्रति उदासीन हैं। समय-समय पर जो निकटता दिखलायी पड़ती थी वह सौजन्य से अधिक क्या कहाएगी ? सौजन्य प्रेम है विपिन बाबू ?"

—"बोलो पारू ! मैंने यह कहकर भूल की है ना ? पारू ! पारू !!

भूल कैसे कहे वह ? गंज में उस साँझ वह स्वयं दौड़ कर मिली थी। दो एक बार मान भी किया था विपिन बाबू ! परन्तु प्रत्युत्तर में क्या मिला ? यही न कि छठे–छमासे दस मिनिट के लिए हुआ आ गये और इसी आधार पर आज आप·········। भला किसी भी नारी को कैसे विश्वास आएगा ? पारुल के लिए भी क्या इतना ही सहज समझते हैं जितना आसान स्वयं के लिए है ? कहिए क्या कहूँ ? विपिन बाबू ! पुरुष, मन जीता है किन्तु नारी को तो तन जीना होता है।

गंगा वह नहीं जाती किन्तु विपिन बाबू का मन और दुख जाएगा यही सोच कर चल पड़ी। सुनसान सड़क पर कितनी बार मन में आया कि कह दे कि—ले चलो विपिन बाबू ! मुझे यहाँ से और समाप्त कर दो, क्योंकि आपको प्राप्य होने से तो रही—परन्तु पारुल जैसी के लिए क्या ऐसा कह सकना आसान था ?

गंगा किनारे पहुँचते ही उसे अपना उत्तरपाड़ा याद आया। पूरब ओर यही गंगा, पद्मा होकर बहती है। सामने के पोखर में वह और पटल बंसी डाले बैठे रहते थे। कुमुदनी भरे पोखरों में ताड़ और केले झुके से झाँकते होते। पटल और पारुल के घर के बीच की पुलिया के दोनों ओर लाल पीली कदलियाँ कतार में सजी रहतीं। उपरान्त पटल कलकत्ते चला गया और पारुल भी शेष परिवार के साथ रहने प्रयाग आ गयी थी। पिछले आश्विन में ही पटल इंगलैण्ड से फिशरीज में डाक्टरेट करके लौटा है तो पारुल को भूला थोड़े ही। यहाँ आया, रहा, सबको बड़ा अच्छा भी लगा

था। एक दिन वह और पटल बातें कर रहे थे तब विपिन बाबू भी आ गये थे। उसके बाद विपिन बाबू को प्रयाग से चला ही जाना पड़ा। कहीं दक्षिण से एक बार स्वल्प सा पत्र भी आया था जिसका उसने कितने हुमस कर उत्तर भी दिया था। यह ठीक है कि वह संयत्त था, पर उससे क्या ?? फिर कहीं कुछ नहीं और अब·········

विपिन ने जब पारुल को हाथ पकड़कर बैठाला वह अपने में तिरोहित थी। वह देख रही थी कि विपिन बाबू फेनयुक्त समुद्र की भाँति उफना रहे हैं। उसे बचपन से ज्ञात है, उसे ही क्या किसी भी नारी को ज्ञात होता है कि ज्वार में ऊपर तिर आनेवाला फेन न तो सच का ही समुद्र है और न ज्वार का आत्ममुखी वेग ही समुद्र की गति है। ज्वार तो तटों पर फेन लीप भर जाता है, सीपें इस घटना की साक्षी रूपा होकर पड़ी रह जाती हैं और पीछे छूट जानेवालों में होते हैं कुछ कंगूरेवाले वर्णी शंख। क्या ये समुद्र की स्थिति होते हैं ? जब कि गया हुआ जल वह दूऽऽर लपेटे खाता फिर ज्वार बनने को होता है।

—"हम अनागत होकर ही रह सकते हैं विगत कदापि नहीं, कदापि नही !
और वर्तमान तो असंगति की खोखल है, निष्प्रयोजनहीन।"

वह नहीं जानती कि वह क्या बोल गयी है। जो जानती है वह यही कि लौटते ज्वार के संग जिस प्रकार तटस्थ तट जाता नहीं वरन जाने का आभास देता है, बस वैसी ही वह भी रही है। उसे चेत तब हुआ जब विपिन ने कहा :

—"चलो पारू ! हम न तो पहले थे ही और न हैं ही, हमें तो होना है,
यह होना ही हमारी संगति है, श्रृंखला है।

जब विपिन द्वार पर उसे छोड़ चला गया तो वह पुकार कर पूछना चाहती रही कि—'क्या सच ही कल चले जाइएगा ?' किन्तु विपिन देखते-देखते सामने के अँधेरे में धँसता ही चला गया था।

फोन वह नही करना चाहती थी, कर बैठी यह बात दूसरी है। जाने के पूर्व बातें करना चाहती है''''किन्तु कैसी बातें? दुहराया कुछ जाता नहीं, और आज को कल से सूत्रित भले ही कर दिया जाए किन्तु उसकी संज्ञा नही बदली जा सकती।

दोनों को बोलना खोजना पड़ रहा था। क्योंकि बोलना चुक चुका था और अब जो कुछ भी बोलना होगा वह मात्र सौजन्य का ही निभाव होगा। पूछा कि—'पारुल कल और आज क्या रोयी है?' गुड़हल सी आखें लिए उसे उठ जाना पड़ा। क्या यही पूछने को वे रुके? अब कहते है कि पारुल स्वयं के साथ ही छल नहीं कर रही है वरन पटल एवं विपिन के साथ भी। इसका पारुल के पास कोई उत्तर नहीं, जाइए विपिन बाबू! जहाँ छल न हो, जहाँ जीवन की संगति दिखे। पारुल क्या दे सकती थी—प्रयोजनहीनता ही न?

हथेलियों मे अँजुली लेते हुए विपिन बाबू के हाथों ने क्या कुछ न कह दिया—"परस्पर की अँजुलियाँ ही प्रतिगति है, प्रतिनियति है पारुल!"
—"नहीं विपिन बाबू! सो नहीं होने का', सुनिए''''"

हथेलियों के स्पर्श भरी अंजुलियों को शेप लिये पारुल फूट पड़ी।

सेतुहीन समय के दोनों ओर वे—

श्री नरेश मेहता की अन्य कृतियाँ

डूबते मस्तूल	(उपन्यास)
सुबह के घण्टे	(नाटक)
बनपाखी सुनो	(कविता संग्रह)
बोलने दो चीड़ को	(कविता संग्रह)

शीघ्र प्रकाशित हो रहे हैं

उपन्यास

यह पथ बन्धु था

धूमकेतु

राख रङ्ग की शाम

प्रथम फाल्गुन

कविताएँ

संशय की एक रात	(खण्ड काव्य)
पृथिवी पुत्र	(काव्य रूपक)
अग्नि देवता	(,, ,,)
खम्भों वाला महानगर	(,, ,,)
मेरा समर्पित एकान्त	(कविता संग्रह)

नाटक

खण्डित यात्राएँ	(तीन अंकीय त्रासदी)
सनोवर के फूल	(एकाङ्की संग्रह)
पिछली रात की बरफ़	(रूपक संग्रह)